VISHVA–JYOTI R. N. NO. 1/57 ISSN 0505-7523
REGD. NO. PB-HSP-01
CURRENCY PERIOD: (1.1.2015 TO 31.12.2017)

६५, ७ अक्तूबर –2016

# विश्वज्योति

## विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान

साधु आश्रम, होश्यारपुर

एक प्रति का मूल्य : १० रुपये

संस्थापक–सम्पादक :
स्व. पद्मभूषण आचार्य ( डॉ. ) विश्वबन्धु

सम्पादक:
प्रो. इन्द्रदत्त उनियाल
( सञ्चालक )

उप–सम्पादक :
डॉ. देवराज शर्मा

परामर्शक–मण्डल :

डॉ. दर्शनसिंह निर्वैर
होश्यारपुर

डॉ. ( श्रीमती ) कमल आनन्द
चण्डीगढ़

डॉ. जगदीशप्रसाद सेमवाल
होश्यारपुर

डॉ. ( सुश्री ) रेणू कपिला
पटियाला

## शुल्क की दरें

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| आजीवन ( भारत में ) | : | १२०० रु. | आजीवन ( विदेश में ) | : | ३०० डालर |
| वार्षिक ( भारत में ) | : | १०० रु. | वार्षिक ( विदेश में ) | : | ३० डालर |
| सामान्य अङ्क ( भारत में ) | : | १० रु. | सामान्य अङ्क ( विदेश में ) | : | ३ डालर |
| विशेषाङ्क ( एक भाग भारत में ) | : | २५ रु. | विशेषाङ्क ( एक भाग विदेश में ) | : | ६ डालर |

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, साधु आश्रम,
होश्यारपुर–146 021 ( पंजाब, भारत )

दूरभाष : कार्यालय : 01882–223581, 223582, 223606
सञ्चालक ( निवास ) : 01882–224750, प्रैस : 231353

E-mail : vvr_institute@yahoo.co.in
Website : www.vvrinstitute.com

# विषय-सूची


| लेखक | विषय | विधा | पृष्ठांक |
|---|---|---|---|
| डॉ० सत्यव्रत वर्मा | गड्डलिकाप्रवाह | लेख | २ |
| डॉ० उषा चौहान | द्रौपदी के नारीधर्म की प्रासंगिकता (किरातार्जुनीयम् के परिप्रेक्ष्य में) | लेख | ६ |
| श्रीमती रीना तिवारी | कतिपय जीवनगत समस्याएं और उनका वैदिक समाधान | लेख | १० |
| श्री ओमप्रकाश बजाज | आदत से लाचार | लघु कथा | १३ |
| डॉ. सुनीता कोहली | रामचरितमानस में शरणागतवत्सलता की घोषणा | लेख | १४ |
| डॉ. सुधांशु कुमार षड़ङ्गी | त्रिकशास्त्रोक्त पञ्चकञ्चुक-एक विवेचन | लेख | १९ |
| डॉ. विवेकानन्द भट्ट | वेदाङ्गों का महत्त्व | लेख | २५ |
| डॉ. परबजीत कौर | सन्त श्री नामदेव जी की वाणी का महत्त्व (आधुनिक सन्दर्भ में) | लेख | ३१ |
| श्री नवीन शर्मा | श्रीमद्भागवतपुराण की भक्ति अथवा भावोपासना का सामाजिक वैशिष्ट्य | लेख | ३४ |
| सुश्री साक्षी | महाभारत में वर्णित योगमहिमा | लेख | ३७ |
| श्री विवेक शर्मा | प्रमुख उपनिषदों में योगदर्शन | लेख | ४२ |
| | संस्थान-समाचार | | ४५ |
| | विविध-समाचार | | ४६ |

# विश्वज्योति

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागात् ॥ (ऋ. १,११३,१)

वर्ष ६५ | होश्यारपुर, आश्विन २०७३; अक्तूबर २०१६ | संख्या ७

यद्गिरिषु पर्वतेषु
गोष्वश्वेषु यन्मधु।
सुरायां सिच्यमानायां
यत्तत्र मधु तन्मयि।।
(अथर्व. ९.१.१८)

(यद्) जो (गिरिषु) टीलों पर (मधु) मिठास होती है, जो पर्वतों पर मिठास होती है, जो (गोषु) गौओं में मिठास होती है, जो (अश्वेषु) घोड़ों में मिठास होती है और जो (गुड़ आदि) की मिठास, (सिच्यमानायां) खींची जा रही (सुरायाम्) सुरा में पाई जाती है, वह (मधु) स्वाभाविक मिठास (मयि) मेरे अन्दर (अपने आप) पैदा होती रहे।

(वेदसार-विश्वबन्धुः)

# गड्डलिकाप्रवाह

– डॉ० सत्यव्रत वर्मा

'साहित्य शब्द अपनी विविध भंगिमाओं में जिस ज्ञान-सम्पदा का बोधक है, वह संस्कृत-साहित्य में समग्रता के साथ विद्यमान है', प्रो. विण्टरनिट्ज़ का यह कथन संस्कृत-साहित्य की समृद्धता और विशालता की सच्ची स्वीकृति है। विश्व में कदाचित् यही ऐसा साहित्य है, जो परम पवित्र वेद-उपनिषद् से लेकर कामसूत्र और रतिरहस्य तक की समस्त विधाओं से सम्पन्न है। लोकसाहित्य का अंग मानी जाने वाली पहेलियों और कहावतों की भी उसमें कमी नहीं है। 'न्याय' नाम से प्रसिद्ध उन अल्पकाय उक्तियों का भी संस्कृतसाहित्य में भरा-पूरा भण्डार है, जो जीवन के उत्थान-पतन में मनुष्य के मार्गदर्शक का काम करती हैं। न्यायसाहित्य में भारत की प्राचीन प्रज्ञा साररूप में समाहित है। प्राचीन ऋषियों/विचारकों ने प्रेरणा के क्षणों में जिन उदात्त सत्यों का साक्षात् किया था तथा जीवन के संग्राम में जो खट्टे-मीठे अनुभव प्राप्त किये थे, उनके अमृत का दोहन इन 'न्याय' नामक घटिकाओं में कर लिया गया। उनके उपकारी तात्पर्य तथा दूरगामी प्रभाव के कारण शास्त्रीय विमर्श में अथवा उसकी गरिष्ठता को हल्का करने के लिए लोकप्रिय न्यायों का प्रयोग प्राचीन काल से होता आ रहा है। दर्शन, व्याकरण, काव्यशास्त्र, नीति, इतिहास-पुराण आदि ग्रन्थों तथा उनके गुरु-गम्भीर भाष्यों में गूढ़ विषयों तथा सिद्धान्तों को लोक शैली में स्पष्ट करने के लिये भी इन न्यायों का आश्रय लिया गया है। विशेषज्ञों ने साहित्य का अवगाहन कर इन न्यायों के स्रोतों, सन्दर्भों, प्रयोगों तथा व्याख्याओं के अन्वेषण का घन-घोर उद्योग किया है, जिससे उनका निहितार्थ अधिक विशदता से प्रकट हुआ है।

जहां अन्धचटकन्याय, अरुन्धतीदर्शन-न्याय, घुणाक्षरन्याय, दण्डापूपन्याय, देहलीदीपन्याय, काकदन्तगवेषणन्याय, सूचीकटाहन्याय, सिंहावलोकनन्याय, स्थूणाखननन्याय, स्थालीपुलाकन्याय, दुर्जनतोषन्याय आदि सैंकड़ों ऐसे न्याय हैं, जिनका विषय को ग्राह्य तथा रोचक बनाने के लिए साहित्य में व्यापक प्रयोग हुआ है, वहीं कुछ न्यायों का प्राचीन लेखकों ने बहुत कम प्रयोग किया है। गड्डलिकाप्रवाह ऐसा ही एक न्याय है। कहने को तो अभिनवगुप्त, मम्मट तथा विश्वनाथ जैसे तीन दिग्गजों ने अपनी कृतियों में 'गड्डलिकाप्रवाह' का उल्लेख किया है, किन्तु

टीकाकारों ने जिसे आधार बना कर इसके तात्पर्यार्थ को उद्घाटित करने का प्रयास किया है, वह प्रयोग केवल काव्यप्रकाश में मिलता है। यह भी ज्ञातव्य है कि मम्मट और विश्वनाथ दोनों ने 'गड्डलिका' शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु टीकाकारों ने बहुधा इसके 'गड्डरिका' रूप को ग्रहण कर इसकी व्याख्या की है। रलयोरभेदः के अनुसार दोनों को एक ही शब्द मानना अनुचित नहीं होगा।

काव्यप्रकाश के अष्टम उल्लास में मम्मट ने गुण और अलंकार के भेद का उपपादन करते हुए इस सम्बन्ध में एक प्राचीन मत का उल्लेख किया है। उसके अनुसार लौकिक गुण और अलंकार में तो भेद किया जा सकता है क्योंकि हारादि अलंकारों का शरीर के साथ संयोग सम्बन्ध होता है जबकि शौर्यादि गुण आत्मा में समवायसम्बन्ध रहते हैं। परन्तु काव्य में ओज आदि गुणों तथा उपमा आदि अलंकारों की समवायसम्बन्ध से स्थिति होती है। अतः काव्य में उनके भेद का उपपादन नहीं किया जा सकता। गुण और अलंकार में वस्तुतः भेद नहीं है, फिर भी जो उनमें भेद मानते हैं, उसका कारण गड्डलिका प्रवाह मात्र है–

**समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः, ओजःप्रभृतीनाम् अनुप्रासादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः।**[1]

काव्यप्रकाश के यशस्वी हिन्दी व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार ये पंक्तियाँ भामह के काव्यालंकार के टीकाकार उद्भट की 'भामहविवरण' नामक टीका से उद्धृत की गयी हैं। यदि ऐसा है, तो मानना होगा कि साहित्य में गड्डलिकाप्रवाह न्याय का प्रथम बार प्रयोग नवीं शताब्दी में उद्भट ने किया था। यदि यह मम्मट द्वारा अपने शब्दों में किया गया उद्भट के मत का पुनराख्यान भी हो, तो भी गड्डलिका- प्रवाह के अर्थ की दृष्टि से कोई फर्क नहीं पड़ता।

काव्यप्रकाश की टीका काव्यप्रदीप के लेखक गोविन्द ने इस न्याय की यह व्याख्या की है–

**तस्मात्तयोर्भेदाभिधानं गड्डलिका-प्रवाहन्यायेन। तथाहि-गड्डलिका मेषी काचिदेका केन, चिद्धे, तुना पुरो गच्छाति** इतरास्तु विनैव निमित्तविचारं तामनुगच्छंति....।[2]

कोई भेड़ जैसे किसी कारण से आगे एक ओर चल पड़ती है, दूसरी भेड़ें बिना विचारे ही उसके पीछे लग जाती हैं, उसी प्रकार किसी आचार्य ने गुण–अलंकार में भेद माना, दूसरों ने बिना सोच–विचार के उसे स्वीकार कर लिया। यह भेड़चाल के अतिरिक्त कुछ नहीं है। उत्तरवर्ती टीकाकारों ने गोविन्द के मत की ही यथावत् अथवा अपने शब्दों में आवृत्ति की है। श्रीविद्या चक्रवर्ती ने अपनी सम्प्रदाय प्रकाशिनी टीका में गड्डलिका–

१. काव्यप्रकाश (सं. आचार्य विश्वेश्वर, काशी, १९६०), अष्टम उल्लास, ६७, वृत्ति, पृ. ३८४

२. काव्यप्रदीप, काव्यमाला २४ (पुनर्मुद्रण), वाराणसी, ८/२, पृ. २७८

प्रवाह को आभाणक (कहावत) मानकर जो इसकी व्याख्या की है, वह गोविन्द की टीका की छाया मात्र है–

**गड्डरिकाप्रवाहेण बर्करप्रयाणन्यायेन। एकस्यां गड्डरिकायाम् अर्थपर्य्यालोचनं विनैव पुरःप्रयातायां सर्वैव पंक्तिस्तमेव पन्थानं प्रमाणीकृत्य प्रवर्तते। प्रकृतेऽप्येतद् एवाभाणकम् आयातम्।**

श्रीवत्सलाञ्छन ने अपनी सारबोधिनी टीका में पहले अनुमान से 'गड्डलिका प्रवाह' का अर्थ ऐसी 'तर्कहीन उक्ति' किया है, जिसमें बिना भेद के भेद मान लिया जाता है, और पूर्ववर्ती विद्वानों के प्रति सम्मान के कारण उसे स्वीकार कर लिया जाता है। परन्तु विकल्प के रूप में उसका चलता-सा कथन है-**यद्वा गड्डरिका मेषी, अविच्छेदेन तदनुगमनं प्रवाहः**। अन्य अधिकतर टीकाकारों ने भी ऐसी है अथवा इससे मिलती-जुलती व्याख्या की है।

उपर्युक्त टीकाकारों के अनुसार गड्डलिकाप्रवाह में प्रयुक्त गड्डलिका। गड्डरिका शब्द का अर्थ मेषी (भेड़ है), और समूचे न्याय का तात्पर्य 'भेड़चाल' है। भेड़ों की यह प्रकृति है कि एक भेड़ जिधर चल पड़ती है, दूसरी भी उसके पीछे लग जाती है, बिना कारण, बिना सोचे। यही भेड़चाल है। इसे अन्धानुकरण भी कहा जा सकता है। परन्तु गड्डरिका का भेड़ अर्थ करने में कठिनाई यह है कि किसी भी प्राचीन कोष में गड्डरिका शब्द नहीं पढ़ा गया है। अतः इसका भेड़ अर्थ करना अनुमान से अधिक कुछ नहीं है। हेमचन्द्र की देशीनाममाला में गड्डरी शब्द अवश्य उपलब्ध है, किन्तु उसका अर्थ भेड़ (मेषी) नहीं, बकरी (छागी) है। शायद इसी आधार पर श्री विद्या चक्रवर्ती ने अपनी टीका में **गड्डरिकाप्रवाहेण बर्करपर्याणन्यायेन** लिखा है।

पहले संकेत किया गया है कि साहित्य-दर्पण में भी गड्डलिकाप्रवाह-न्याय का उल्लेख हुआ है। षष्ठ परिच्छेद में छत्तीस लक्षणों और तैंतीस नाट्यालंकारों का निरूपण करने के पश्चात् विश्वनाथ का कथन है कि ये यद्यपि साधारणतः एक ही हैं तथापि हमने गड्डलिका-प्रवाह से उनका पृथक् पृथक् कथन किया है–

**एषां च लक्षणनाट्यालंकाराणां सामान्यत एकरूपत्वेऽपि भेदेन व्यपदेशो गड्डलिकाप्रवाहेण।**[3]

साहित्यदर्पण के टीकाकार पं. जीवानन्द विद्यासागर ने –

**गड्डलिकाप्रवाहेण गतानुगतिकन्यायेन इत्यर्थः, प्राचीनोक्तरीत्येति भावः।**[4]

कहकर कर्तव्य की इतिश्री कर दी है। गतानुगतिकं गड्डलिकाप्रवाह का अर्थ नहीं

---

३. साहित्यदर्पण (१-६ परिच्छेद), व्याख्याकार शालग्रामशास्त्री, लखनऊ, सम्वत् १९७८, षष्ठ परिच्छेद, पृ. २८८

४. साहित्यदर्पण (सं. जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १९३४), ६/५१५, टीका, पृ. ४९९

भावार्थ है, यद्यपि इसमें न्याय की भावना पूर्णतया ध्वनित है। परन्तु साहित्यदर्पण के हिन्दी भाष्यकार पं. शालग्राम शास्त्री ने हिन्दी में इसकी जो व्याख्या की है, वह कल्पना तथा तथ्य का मनोरम सम्मिश्रण है। 'जैसे बैलगाड़ी लीक लीक चला करती है। जिधर से एक गई है उसी क्षुण्णमार्ग से अन्य भी जाती है। पीछे जाने वाली प्रायः दूसरा सरल मार्ग निकालने का उद्योग सम्भव हो तो भी-नहीं करती, उसी प्रकार विशेष विचार न करके परम्परानुसार जो काम किया जाय उसे 'गड्डलिका प्रवाह' कहते हैं।'[५]

गड्डलिका का सही अर्थ ज्ञात न होने के कारण भाष्यकार ने ध्वनिसाम्य के आधार पर बैलगाड़ी अर्थ की कल्पना की है और उसे लीक लीक चला कर 'न्याय' का भावार्थ प्रकट करने की चेष्टा की है। इस सायास कल्पना में भी गड्डलिका प्रवाह का तात्पर्य आंशिक रूप में बिम्बित है, यह प्रसन्नता की बात है और उसी 'प्रकार विशेष विचार न करके परम्परानुसार जो काम किया जाए उसे गड्डलिका प्रवाह कहते हैं' लिखकर तो उन्होंने अनजाने संस्कृत टीकाकारों के इतरास्तु विनैव निमित्तविचारं तामनुगच्छन्ति तथा 'अर्थपर्यालोचनं विनैव' कथनों की हिन्दी में लगभग ठीक आवृत्ति की है। किन्तु सामूहिक रूप में भाष्यकार की व्याख्या अस्पष्ट तथा उलझी हुई-सी प्रतीत होती है।

प्राचीन कोषों में गड्डलिका का उल्लेख न होने पर भी उत्तरवर्ती टीकाकारों ने इसका 'मेषी'(भेड़) अर्थ कैसे किया है? स्पष्टतः उन्होंने यह शब्द तथा इसका अर्थ लोक से ग्रहण किया है, जहां यह सहज भाव से प्रचलित रहा होगा। इस दृष्टि से गड्डलिका अथवा गड्डरिका को 'देशी' शब्द कहा जा सकता है, जो नवीं शताब्दी में (अथवा उसके कुछ बाद) शिष्ट साहित्य में प्रविष्ट हो गया था। गड्डलि(रि)का को देशी शब्द मानने की पुष्टि लोक में प्रचलित 'गडरिया' शब्द से होती है, जो गड्डरिका। अजा पालक के अर्थ में आज भी धड़ल्ले से प्रचलित है। 'देशी नाममाला' कोष से स्पष्ट है कि हेमचन्द्र के समय (बारहवीं शताब्दी) में गड्डलि (रि) का ने 'गड्डरी' रूप धारण कर लिया था। यह भी 'गडरिया' शब्द के बहुत निकट है। गड्डरिका अथवा गड्डरी के पालक/स्वामी 'गडरिया' शब्द से उनका अर्थ स्वतः खुल जाता है।

-7/34, पुरानी आबादी, नामदेव फ्लोर मिल के पास, श्रीगंगानगर (राज.)

५. साहित्यदर्पण (शालग्राम शास्त्री, पूर्वोक्त), ६.२१२ (i), हिन्दी व्याख्या, पृ. २८८

# द्रौपदी के नारीधर्म की प्रासंगिकता ( किरातार्जुनीयम् के परिप्रेक्ष्य में )

– डॉ० उषा चौहान

संस्कृत के महाकवियों में कालिदास के बाद महाकवि भारवि का स्थान महत्त्वपूर्ण है, महाकाव्यों में तत्कालीन शास्त्रीय परिभाषा की कसौटी पर सर्वाधिक खरा उतरने वाला महाकाव्य किरातार्जुनीयम् ही है। फलतः यह बृहत्त्रयी में भी सुप्रतिष्ठित है। 'किरातार्जुनीयम्' में वस्तुतः द्रौपदी की प्रस्तुति बहुत कम देखने को मिलती है, क्योंकि तत्कालीन समय में पति (पुरुष) पत्नी (नारी) के समक्ष सभी प्रकार के वृतान्त प्रस्तुत करता था। वर्तमान में तो पुरुषों का एक वर्ग स्त्री-वर्ग को इस लायक ही नहीं समझता कि उनसे किसी प्रकार के राजकीय, शासकीय या किसी समसामायिक प्रसंग पर वार्तालाप भी किया जाये। इसके विपरीत किरातार्जुनीय में पुरुष द्वारा नारी को राजनैतिक तथ्यों से पूर्णतया अवगत कराया जाता था, इससे यह सिद्ध होता है कि वर्तमान में भी नारी के समक्ष सभी सामाजिक, राजनीतिक विषयक तत्त्व उजागर होने चाहिएं। किरातार्जुनीयम् में द्रौपदी ने शत्रुओंकी सिद्धि को सुनकर उनसे होने वाले अपकारों को सहन करने में असमर्थ होकर युधिष्ठिर के क्रोध एवं उद्योग को उत्तेजित करने वाले वचनों को कहा कि 'शत्रुओं की सफलता सुनकर उनके द्वारा होने वाले अपकारों को दूर करने में अपने को असमर्थ समझकर राजा (पति) युधिष्ठिर के क्रोध को प्रज्वलित करने वाली वाणी में बोल उठी।'[1]

यहां अन्य किसी पुरुषपात्र द्वारा कुछ ना कहे जाने के कारण अथवा अन्य पुरुषपात्र द्वारा कुछ कहे जाने के पूर्व ही जो वचन कहे- उससे यह सिद्ध होता है कि पुरुषरूप पति के क्रोध अथवा उद्योग को प्रज्वलित करना संभवतः पत्नीरूप नारी का ही धर्म है। वर्तमान में भी पति वांछित उद्योग करने में किसी भी कारण से यदि असफल हो रहा हो तो निश्चित रूप से पत्नी का धर्म है कि वह पति को वांछित उद्योग हेतु प्रोत्साहित करे।

द्रौपदी द्वारा आगे कहे जाने वाले सभी तथ्य धर्मशास्त्रीय दृष्टि से भी नीतिपूर्ण हैं। अतः

१. किरातार्जुनीय १/२७

वह सर्वप्रथम अपने पति को दिशानिर्देश दिये जाने से पूर्व ही क्षमा मांगती हुई कहती है कि 'यद्यपि आप के समान नीति-निष्णात विद्वान् को स्त्रीजन द्वारा कहा प्रबोधवचन उनका अपमान-सा होता है तथापि स्त्रीजनोचित शालीनता को नष्ट कर देने वाली मनोव्यथाएं मुझे कहने के लिये प्रेरित कर रही हैं।'[२]

यहां द्रौपदी की वाणी में भाषणंपटुता, विनम्रता और धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में वर्णित नारीधर्म का सम्मिश्रण संकेतित है, कारण धर्मशास्त्रीय दृष्टि से पत्नी द्वारा पति को प्रबोध वचन कहना संभवतया निषिद्ध हो। अत: पति को कराये जाने वाले प्रबोधवचन के लिये क्षमा मांगते हुए पत्नी नीति से ही ठोस कारण प्रस्तुत करती है- 'दु:खी व्यक्ति के लिये तो अनुचित कर्म भी क्षम्य हो सकता है।'

तदनन्तर पति के शत्रुओं द्वारा किये गए अपमानों की ज्वाला में जलती हुई फलत: विविध तर्कयुक्त उक्तियों से पति को युद्ध के लिये प्रेरित करती द्रौपदी का तेजस्विनी-धर्म इन शब्दों में द्रष्टव्य है। वह कहती है कि 'इन्द्र तुल्य पराक्रम वाले अपने वंशज राजाओं से लगातार धारण की गई पृथ्वी को आपने अपने हाथों से इस प्रकार फैंक दिया जैसे कोई उन्मत्त हाथी अपनी माला को फैंक देता है।'[३] यहां द्रौपदी ने राजसभा में द्यूत-क्रीड़ा प्रसंग में युधिष्ठिर द्वारा किये गये इसके तथा राजलक्ष्मी के अपमान की ओर संकेत किया है तथा पति के सर्वस्व की रक्षा करना भी मानो पत्नी का धर्म है, फलत: कहती है- जो मूढ़बुद्धि कपटी के विषय में कपट नहीं करते वे पराजय को प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि दुष्ट शत्रु ऐसे निष्कपट व्यक्ति को सन्निकट जाकर उसी प्रकार मार देते हैं जैसे कवचरहित शरीर को पैने बाण नष्ट कर देते हैं। धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में नारी तथा नारीरूप राजलक्ष्मी की सदैव रक्षा की जानी चाहिए- इस अर्थ को संकेतित करते द्रौपदी के शब्द इस प्रकार हैं-

गुणानुरक्तामनुरक्त साधनः कुलाभिमानी कुलजां नराधिपः।
परैस्त्वदन्यः क इवापहारयेन्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम्।।[४]

इतना ही नहीं वह आगे भी अपना वक्तव्य जारी रखती है।[५] पति के मानसम्मान को पुन: प्रतिष्ठित करने तथा पति की निन्दनीय स्थिति को सहन करने में स्वयं को असक्षम कहा है, अत: अन्य श्लोकों के माध्यम से भी[६] इसने अपने पति के पौरुष एवं सम्मान को उद्दीप्त करने वाले वचन कहे। धर्मशास्त्रीय दृष्टि से अथवा वर्तमान में भी सामाजिक दृष्टि

२. किरातार्जुनीय १/२८ ३. वही १/२९ ४. वही १/३१
५. वही १/३२, ३३ ६. वही १/३४,३५,३६

से पत्नी द्वारा पति को किसी भी प्रकार से दिशा-निर्देश देना कुछ भारतीय परिवारों तथा कुछ समाजों में उचित नहीं माना जाता है। सम्भवतया नारी होते हुए इस प्रकार के विचारों की अपने स्तर पर रक्षा करते हुये तथा धर्मशास्त्रों में वर्णित नारीधर्म की भी रक्षा करते हुये वह कहती है- वर्तमान में आपकी बुद्धि को मैं नहीं जानती हूँ क्योंकि चित्तवृत्तियाँ प्रति व्यक्ति की भिन्न-भिन्न होती हैं। अति महती आपकी आपंत्ति को देखती हुए मेरे चित्त की मनोव्यथाएं मुझे हठात् पीड़ित कर रही हैं।[७]

द्रौपदी द्वारा ऊपर कहे गये सभी संवादों में यदि पति को कहा गया प्रबोधवचन जो समाज के एक वर्ग द्वारा मानो पति का अपमान है तो इसके लिए पत्नी द्वारा नीतिगत भावनात्मक ठोस कारण भी प्रस्तुत किया गया है। फलतः यह प्रबोधवचन धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में वर्णित उस नारीधर्म के विरुद्ध नहीं जाता कि पत्नी को तत्कालीन समय में अथवा वर्तमान में भी पति के ऊपर क्रोध इत्यादि नहीं करना चाहिए।

क्योंकि द्रौपदी (नारी) के वचनों में स्वाभिमान तथा विनयशीलता का सम्मिश्रण है, अतः यह नारीधर्म के शिष्टाचार एवं औचित्य का अतिक्रमण तो कदापि नहीं कहा जा सकता बल्कि इसके द्वारा स्वपक्ष का तर्कपूर्वक मण्डन एवं परपक्ष का उद्वेगरहित शांतचित खण्डन ही विशेष रूप से प्रतिपादित है। इसके संवाद जहां एक ओर नारी के अपमान, व्यथा, बल, स्वाभिमान, जातीय गौरव, शिक्षा, उपदेश आदि अनेकों भावों को प्रस्तुत करते हैं वहीं दूसरी ओर पति द्वारा की जाने वाली भावी विजय के प्रति आश्वस्त भी करते हैं जिससे पति के मनोबल एवं उद्योग को बल मिल सके। जैसा कि वह कहती भी है कि- दैव और काल की अनिवार्यता के कारण अगाध समुद्र सदृश आपत्ति में मग्न, क्रांति के क्षीण हो जाने से अप्रसन्न धनहीन अन्धकार के सदृश शत्रुओं को नष्ट करके उदय को प्राप्त करते हुए आपको लक्ष्मी उसी प्रकार पुनः प्राप्त करे, यथा समय के अनिवार्य नियम के अनुसार सागर रूप आपत्ति में मग्न प्रकाश के संकोच से अप्रसन्न एवं अल्प किरण वाले अगले प्रातःकाल में उदित होते हुए सूर्य को पुनः शोभा प्राप्त कर लेती है।[८]

उपरोक्त भाव वर्तमान नारी में भी पाया जाता है। उसे संस्कार ही ऐसे दिये जाते हैं कि वह सदैव पति हित को ही प्राथमिकता दे, द्रौपदी द्वारा कहे गये सभी तथ्य निश्चित रूप से नारी धर्म के अनुकूल हैं क्योंकि महाकवि

७. किरातार्जुनीय, १/३७

८. वही, १/४६

भारवि ने पुरुषपात्र भीमसेन द्वारा इसके वचनों की प्रशंसा में कहा है- 'क्षत्रिय कुलाभिमानी द्रौपदी ने प्रेमपूर्ण दृष्टि से चारों तरफ हम लोगों को देखकर जो वचन कहा है, बृहस्पति से भी कठिनता से कहने योग्य यह वचन सबको विस्मित कर सकता है।[९]

एवं - दुर्बोध नीतिशास्त्र को अभ्यास आदि उपायों उसी प्रकार जाना जा सकता है जैसे गहराई के कारण दुष्प्रवेश्य जलाशय में भी सीढ़ी बना दिये जाने से आसानी से प्रवेश किया जा सकता है। परन्तु वहां पर वह व्यक्ति अत्यन्त दुर्लभ है जो संधि-विग्रहादी कार्य तथा स्नानादि कार्य के मार्ग को देश-कालादि से अविरुद्ध प्रदर्शित करता या बनाता है।[१०]

और भी- परिणाम में सुखदायक (हितकर) अतिप्रशस्य क्षीण शक्ति वालों को व्यथाजनक द्रौपदी के वचन में बहुत गुण दिखाई देता है तथा मनोहर अर्थवाली इस द्रौपदी की वाणी गुण के पक्षपाती आपको भी अच्छी लगनी चाहिये। क्योंकि गुण के पक्षपाती विद्वान् लोग वचन के विषय में वक्ता का ध्यान नहीं रखते, वाणी हितकर है तो किसी की भी हो उसको स्वीकार करते हैं।[११]

किरात में द्रौपदी ने पति रक्षा के जो प्रबोध वचन कहे हैं वर्तमान में भी वह अक्षरशः भारतीय नारी द्वारा पालन किये जाते हैं, हर क्षेत्र में पत्नी अपने पति की कार्यक्षमता, उद्यमशीलता एवं अन्य गुणों को प्रोत्साहित करती रहती है और यही द्रौपदी के नारीधर्म एवं वर्तमान में भारतीय नारीधर्म के श्रेष्ठ स्थान पातिव्रत्य की पराकाष्ठा भी है- इतिशम्।

- व्याख्याता, राजकीय महाविद्यालय, सिरोही (राज.)

९. किरातार्जुनीय, २/२
१०. वही, २/३
११. वही, २/४

# कतिपय जीवनगत समस्याएं और उनका वैदिक समाधान

– श्रीमती रीना तिवारी

सृष्टि के आदि में ईश्वर ने ऋषियों को वेद का ज्ञान दिया। ऋग्वेद का ज्ञान अग्निऋषि को, यजुर्वेद का ज्ञान वायुऋषि को, सामवेद का ज्ञान आदित्यऋषि को और अथर्ववेद का ज्ञान अंगिरा ऋषि को प्रदान किया। इन वेदों में प्रत्येक विषय का ज्ञान है किन्तु मुख्य रूप से ज्ञान, कर्म और उपासना– ये तीन वेद के विषय हैं। ईश्वर ने अनुपम धन के रूप में वेद मानव-समाज को दिये हैं। इन वेदों में वो सामग्री है जिसको जानकर संसारिक-लोग सुख-शांति व समृद्धि को पाकर मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं।

परमात्मा ने सृष्टि का निर्माण करते हुए अनेकविध जड़-चेतन का सर्जन किया। जड़ और चेतन में सर्वश्रेष्ठ मनुष्य है। जिस प्रकार मनुष्य को ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृति कहा जाता है उसी प्रकार समाज को सांस्कृतिक चेतना से युक्त मनुष्य द्वारा सुनियोजित संस्थान कहा जाता है। इसी में मनुष्य उत्थान-पतन, प्रकर्ष-अपकर्ष आदि का भागी बनता है। मनुष्य ने समाज में नियमों की जिस प्रकार व्यवस्था की है ऐसा प्रतीत होता है कि उसने ईश्वर की प्रेरणा से ही नियम बनाए हैं। जिसमें दुर्गुणों को छोड़कर सदगुणों की ओर जाने की प्रवृत्ति है। जो जितने सद्गुणों से मण्डित रहता है वो उतना ही ईश्वर के निकट रहता है। समाज का या राष्ट्र का निर्माण हमेशा अनुकूल और उदात्त प्रवृत्ति से ही होता है। विपरीत परिस्थितियों को हमें दिशा देकर निर्माण एवं व्यवस्था की ओर मोड़ना होता है। जितने भी राष्ट्र निर्माता हुए है उन सब में इसी महनीय गुण का आधान रहा है। कतिपय विशिष्ट पक्ष जो कि आधुनिक समाज का निर्माण करते हैं उनका विवेचन प्रस्तुत है– सर्वप्रथम मानव-समाज के लिए वेद की भूमिका में आस्तिक बनना एक विशिष्ट गुण है। जब व्यक्ति आस्तिक हो जाएगा तो समाज अत्यधिक उन्नति करेगा। आस्तिकता के आते ही मनुष्य अनुशासित हो जाता है। अनुशासन के अन्तर्गत ही मनुष्य नियमपूर्वक कार्य करने लगता है। आस्तिक का अर्थ है– परमेश्वर को सर्वव्यापक मानना। मनुष्य जब कोई कार्य करता है तो वह ईश्वर को प्रत्यक्ष अनुभव करता है और वह अनुशासन में रहकर

ही कार्य करता है। किन्तु वर्तमान समय में अनुशासन नहीं है। इसका कारण यह है कि हम वेद को नहीं मानते (नास्तिको वेदनिन्दकः)। अनुशासन के बिना मनुष्य किसी भी क्षेत्र में विकास नहीं कर सकता। जैसा कि ऋग्वेद में कहा गया है कि- "मज्जन्त्यविचेतसः"[१] अर्थात् अनुशासन के बिना मनुष्य डूब जाता है। अनुशासन के अभाव में व्यभिचार, दुराचार, भ्रष्टाचार व्याप्त हो रहा है। इन समस्याओं से मुक्ति पाने के लिए वेदों का ज्ञान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मनुष्य का सदाचारी होना भी बहुत ज़रूरी है। सदाचारी मनुष्य ही समाज में सुखी रहकर दूसरों को सुख दे सकते हैं। वर्तमान समाज में सदाचार की नितान्त अनिवार्यता है। इसके लिए वेद हमें उपदेश देते हुए कहते हैं कि-

**सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्।**
**आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीके पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ।।**[२]

अर्थात् हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मद्यपान, जुआ, असत्य भाषण और इन पापों के करने वाले दुष्टों का त्याग ही सप्त मर्यादा है। इनमें से यदि कोई मनुष्य पाप करता है तो वह पाप का भागी बनता है। जो धैर्य से इन हिंसा आदि पापों को छोड़ देता है वह निस्संदेह जीवन में मोक्षभागी होता है।

जिन विकारों से मनुष्य अपने उद्देश्य से परे हो जाता है उनकी परिगणना एक मंत्र में इस प्रकार की गयी है-

**उलूकयातुं शुशुलूकयातं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।**
**सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र।।**[३]

अर्थात् गरुड़ के समान मद, गीध के समान लोभ, काक के समान काम, कुत्ते के समान मत्सर, उलूक के समान मोह, और भेड़िये के समान क्रोध इन सभी को मार भगाना अर्थात् काम, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि छह विकारों को अपने अन्तःकरण से हटा दो।

हमसे कभी भी अभद्र, असभ्य व्यवहार न होंवे इसके लिए वेद मधुर-भाषी होने का उपदेश देते हैं-

**जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।**
**ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि।।**
**मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।**
**वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः।।**[४]

अर्थात् मेरी जिह्वा के अग्रभाग में मधुरता हो और जिह्वा के मूल में मधुरता हो। हे मधुरता! मेरे कर्म में तेरा वास हो और मेरे मन के अन्दर भी तू पहुंच जा। मेरा आना-जाना मधुर हो, मैं स्वयं मधुरमूर्ति बन जाऊं।

---

१. ऋग्वेद ९/६४/२१
२. ऋग्वेद १०/५/६
३. ऋग्वेद ७/१०४/२२
४. अथर्ववेद १/३४/२-३

वेद में शराब पीने को बुरा कहा गया है-

**हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्।**
**ऊधर्न नग्ना जरन्ते ।।**[५]

अर्थात् शराब पीने वाले दुष्ट लोग आपस में लड़ते और नग्नरूप में व्यर्थ बड़बड़ाते हैं। इसलिए शराब कभी भी नहीं पीनी चाहिए।

जिस प्रकार शराब पीना बुरा है, उसी प्रकार जुआ खेलना बुरा है। इसके लिए वेद उपदेश देते हैं कि-

**जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्वस्वित्।**
**ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति।।**[६]

अर्थात् जुआरी की स्त्री कष्टमय अवस्था के कारण दुःखी रहती है, जुआरी की माता रोती रहती है, कर्जे से लदा हुआ जुआरी स्वयं सदा डरता रहता है और धन की इच्छा से वह रात के समय चोरी करता है। वह पाप का भागी बनता है।

अथर्ववेद में चोरी को पाप कर्म बताया गया है। वेद उपदेश देते हैं कि-

**येऽमावास्यां रात्रिमुदस्थुर्व्राजमंत्रिणः।**
**अग्निस्तुरीयो यातुहा सो अस्मभ्यमधि ब्रवत्।।**[७]

अर्थात् रात्रि के समय चोर सक्रिय होते हैं उन्हें पकड़कर राजमन्त्री उनकी दुर्गति करते हैं।

सुखी जीवन के लिए परिवार में परस्पर उत्तरदायित्व तथा सहयोग की भावना बनी रहे इसके लिए वेद उपदेश देते हैं-

**अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।**
**जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्।।**[८]

अर्थात् पुत्र पिता का अनुव्रती होवे। पुत्र माता के साथ उत्तम मन वाला हो। पत्नी पति के साथ मधुर एवं शान्तियुक्त बोले।

वास्तव में यह सत्य प्रतीत होता है कि हम यदि वेद के द्वारा निर्दिष्ट मार्गों का अनुसरण करें तो निश्चित ही आज समाज में फैली बुराईयां समाप्त हो जायेंगी। हमें वेद के द्वारा दिखाये गए मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। मनुष्य को सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म का ज्ञान होना चाहिए क्योंकि इन्हीं कर्मों के अनुसार मनुष्यों को फल मिलता है। उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि आज भी वेद सामाजिक बुराइयों को दूर करके जीवन को व्यवस्थित करने की राह दिखाते हैं। आवश्यकता है तो इनका अध्ययन करके इनमें से तत्वज्ञान निकाल कर मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण किया जाए।

**संस्कृत लैक्चरार, सरकारी आयुर्वेद कॉलेज, पटियाला**

५: ऋग्वेद ८/२/१२
६. ऋग्वेद १०/३४/१०
७. अथर्ववेद १/१६/१
८. अथर्ववेद ३/३०/२

# आदत से लाचार

– श्री ओमप्रकाश बजाज

कहते हैं इंसान अपनी आदत से लाचार होता है। हर काम में उसकी रोज़मर्रा की आदत उसके आड़े आ ही जाती है। कई वर्षों से चली आ रही पत्नी की मांग पर हम दोनों माता वैष्णोदेवी के दर्शन हेतु निकल ही पड़े थे। जम्मू से कटरा जाते हुए बस में दिल्ली से आए एक परिवार से परिचय हुआ। मालूम हुआ कि वह एक बिज़निसमैन हैं और हर वर्ष माता के दर्शन हेतु आते ही हैं। मन की घबराहट कुछ कम हुई कि सारे कार्यक्रम से वाकिफ लोगों का साथ मिल गया। श्री कालड़ा और उनकी धर्मपत्नी तथा पांचों परिवारजनों से अपनापन-सा हो गया।

कटरा पहुंच कर बारी के नम्बर वाला टोकन लिया। कालड़ा जी के पहचान वाले स्थान पर रात बितायी। दूसरी सुबह तैयार होकर 'जय माता दी' का जयकारा लगाते हम सब पैदल मंदिर के लिए रवाना हुए। कालड़ा जी हमारे अभिभावक-से ही हो गए थे। देर शाम को माता के दरबार पहुंच गए। पता चला कि दर्शन के लिए हमारा नम्बर रात के ३ बजे के बाद आने की सम्भावना है। अतः कम्बल लिए, सराय में स्थान लिया। खा-पी कर लेट गए। थोड़ी-सी देर बाद कालड़ा जी ने आकर कान में फुसफुसाया कि उन्होंने बात कर ली है। कुछ ले-देकर हम लोगों को दर्शन अभी हो जायेंगे। हमारा मन नहीं माना कि इतनी दूर से आस्था और श्रद्धा के साथ जिस कार्य हेतु आए हैं उसमें भी बेईमानी करें। वैसे भी हमें लौटना तो कल दिन निकलने पर ही था। अभी दर्शन कर भी लेंगे तो क्या फायदा होगा। कालड़ा जी बोले कि अभी दर्शन हो जाएंगे तो फिर आराम से सोएंगे। खैर, हमने तो मना कर दिया।

कालड़ा जी सपरिवार चले गए। हमें ऊंघ आ गई होगी। अचानक जाग हुई तो देखा कि कालड़ापरिवार माता की चुनरिया बांधे 'जय माता दी' के जयकारे लगाता दर्शन कर के लौट आया था। वे लोग लेटने का उपक्रम कर ही रहे थे कि ३-४ लोग आए, जरा सी बातचीत के बाद उन के और कालड़ा जी के बीच गरमागरमी, फिर गालीगुफतार और फिर हाथापायी होने लगी। मालूम हुआ कि पैसे के लेन-देन पर मोलभाव में कुछ गलतफहमी हो गई थी। मन खट्टा हो गया, एक तरफ असीम श्रद्धा और दूसरी ओर यह आचरण! शायद आदत से लाचार!

**विजय विला, 166-कालिंदी कुंज, पिपलिहाना, रिंग रोड, इंदौर-452018 (म.प्र.) फोन- 0731-2593443**

# रामचरितमानस में शरणागतवत्सलता की घोषणा

– डॉ. सुनीता कोहली

भारतीय संस्कृति के अमर वैतालिक गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरितमानस' हिन्दीभाषी भारतीयों का वेदग्रन्थ है। डॉ. भगवानशरण भारद्वाज की दृष्टि में 'रामचरितमानस' भारत की चिन्तन-संस्कृति का निर्मल दर्पण है और है भारतीय जनता के स्वप्नों और आकांक्षाओं का ज्वलन्त दस्तावेज।[१] जिस प्रकार अस्पताल शारीरिक स्वास्थ्य प्रदान करता है, उसी प्रकार 'रामचरितमानस' शारीरिक, मानसिक, आर्थिक एवं सामाजिक स्वास्थ्य प्रदान करता है।[२] डॉ. महेश शर्मा 'पञ्चतीर्थ' की दृष्टि में शरणागतों–भगवत्-प्रपन्नों–राम प्रपन्नों के लिए यह घोषणा है कि मैं (श्रीराम) भक्तों को अभय कर देता हूँ। योग-क्षेम का निर्वाह करता हूँ। माता की तरह रक्षा करता हूँ। 'मम पन शरणागत भय हारी।' यह सब भगवद्-घोषणाएं सुन्दरकाण्ड का सर्वस्व हैं। प्रपन्नों के लिए पारिजात हैं। शरणागतों के प्राण हैं। भक्तों की भूल-चूक को वे भूल जाते हैं। यही तो पतितपावन की पावनता-दयालुता है।[३]

'रामचरितमानस' के 'सुन्दरकाण्ड' में भगवान् श्रीराम की ऐसी कृपा-दयालुता, शरणागतवत्सलता, पतितपावनता की सुन्दर और आश्वासनपूर्ण घोषणा मिलती है। दास-शिरोमणि हनुमान् के शौर्य-वीर्य पराक्रम, उत्साह मति-प्रताप-सौशील्य-माधुर्य और नीति-निपुणता की झांकी मिलती है। 'करहि सदा सेवक पर प्रीती' के गुरु-मन्त्र से दीक्षित विभीषण का आत्मसमर्पण मिलता है। सीता और राम के अर्धमिलनसूचक सन्देशों का आदान-प्रदान मिलता है।[४]

कवि ने 'मंगलाचरण' में परम शान्ति देने वाले भगवान् राम की वन्दना की है। रामप्रिय भक्त हनुमान् को सात विशेषणों से विभूषित कर उन्हें नमन किया है। डॉ. महेश शर्मा

१. डॉ. भगवानशरण भारद्वाज, 'रामचरितमानस और आधुनिक जीवन की समस्याएँ'।

२. डॉ. महेश सिंह यादव, 'रामचरितमानस' में उपस्थित नीतिपरक तथ्य', विश्वज्योति, नीतिशास्त्र विशेषांक।

३. डॉ. महेश शर्मा, 'पञ्चतीर्थ', तुलसी-मानस मन्थन

४. वही, पृ. १२२

'पञ्चतीर्थ' ने माना है कि कवि ने रघुपतिप्रिय दूत को रघुपति से, भक्त को भगवान् से मिला दिया है। इस काण्ड में उस रघुपतिप्रिय दूत को बैसा दौत्य-कर्म करना है, जो उन्हें 'दूताग्रगण्य' की उपाधि से विभूषित कर दे।[५] डॉ. शिवाधार चौबे ने इस अपने लेख 'हनुमान् द्वारा सीता की खोज: एक प्रतीकात्मक विवेचन' में यह माना है कि 'हनुमान्' का अर्थ है जिसका मान नष्ट हो चुका है। आत्माभिमान साधना-जगत् का दारुण प्रत्यूह है। यही कारण है कि हनुमान् बार-बार लघुरूप धारण करते हैं। सत्वगुणी माया की बाधा-सुरसा, रजोगुणी माया की बाधा-लंकिनी, तमोगुणी माया की बाधा- सिंहिका। ये तीनों ही त्रिगुणात्मिका माया के तीन रूप हैं।[६] लंका में पवनपुत्र के विविध रूपों की धूप-छांह दर्शनीय है। कभी ब्रह्मपाश में बंध जाना, कभी उछल कर कनक-भवनों पर चढ़ जाना। अग्नि-ज्वालाओं के बीच प्रलयंकर रूप धारण करना। कभी माता सीता के सामने भोलापन धारण करना, कभी कनक-भूधराकार रूप धारण। कभी विप्र रूप धारणकर विभीषण से मिलना। पवनपुत्र की शक्ति और आकृत्ति के सुन्दर रूप हैं।[७]

हनुमान् लंका पहुँचने पर रावण को तामसी-निद्रा में सुप्त पाते हैं जबकि विभीषण स्वयं उनके प्रवेश से पहले ही सातोगुणी निद्रा से जाग जाता है। वह राम-राम सुमिरन कर, साधुता-सज्जनता की संज्ञाओं से अभिहित हो जाता है। विभीषण राम भक्त हनुमान् से प्रश्न करते हैं कि आप अपना परिचय दें। क्या आप हरि के दासों में से कोई एक हैं? मेरी ह्दयरूपी भावनाएं भक्ति से ओत-प्रोत हो रही हैं। क्या आप दीनों से प्रेम करने वाले स्वयं श्रीराम हैं जो अपने उस भक्त को 'बडभागी' बनाने आए हैं, जो आपसे 'भक्ति-वर प्राप्त' कर आप की भक्ति करना भूल चुका है। क्या मुझ अनाथ तामस देही पर भगवान् श्रीराम कृपा करेंगे? विभीषण के प्रश्नों का उत्तर देते हुए हनुमान् प्रभु श्रीराम का अनुग्रह, भक्त-वत्सलता, प्रभु की रीती और सेवक के प्रति उनकी प्रेम भावना का वर्णन करते कहते हैं- **सुनहु विभीषन प्रभु कै रीती। करहिं सदा सेवक पर प्रीती।।** ऐसे स्वामी श्रीराम की भक्ति को भुला कर, विषयभोगी मनुष्य अपने जीवन को स्वयं

५. डॉ. महेश शर्मा, 'पञ्चतीर्थ', तुलसी-मानस मन्थन पृ. १२८

६. डॉ. शिवाधार चौबे, 'हनुमान द्वारा सीता की खोज: एक प्रतीकात्मक विवेचन', (संपा.) अरविन्दर पराशर, रामचरितमानस का प्रतीकार्थ विवेचन, होशियारपुर, सनातन धर्म कालेज २००६, पृ. ७७।

७. डॉ. महेश शर्मा, 'पञ्चतीर्थ', तुलसी-मानस मन्थन, पृ. १२१

दुखमयी बनाने वाले हैं।

कवि तुलसीदास ने अशोकवाटिका प्रसंग में माता सीता के वियोग को 'कारण रूप' देकर रामभक्त हनुमान् के (प्रभु कृपा करें) 'आशीर्वाद' कार्य का विशेष विधान रूपायित किया है। हनुमान् द्वारा फैंकी मुद्रिका को देखकर सीता के मन में द्वन्द्व उठते हैं। यह मुद्रिका आई कहां से ? कौन ले आया? यहां तो कोई नहीं दिखता। क्या मेरे अजेय पति को किसी ने जीत तो नहीं लिया।[८] माया से ऐसी अँगूठी बनायी नहीं जा सकती। सीता इन प्रश्नों से दुःखी और व्याकुल हो जाती है। माता सीता की पीड़ा को देखते हुए तभी हनुमान् प्रकट होते हैं- **रामचन्द्र गुन बरनै लागा। सुनतहि सीता कर दुख भागा।।** सीता का प्रतीकार्थ विवेचित करती हुए डॉ. नीरजा सूद मानती हैं कि- हनुमान् द्वारा राम का यशोगान सुनकर सीता आनन्दातिरेक होती है। वह अपनी स्नेहपूर्ण कृतज्ञता प्रकट करते हुए हनुमान् को अजर-अमर गुणनिधि तथा राम के कृपापात्र होने का आशीर्वाद देती है- **करहुँ बहुत रघुनायक छोहू।**[९] डॉ. महेश शर्मा के विचार में माता सीता ने जितना स्नेह-सिक्त आशीर्वाद सपूत हनुमान् को दिया उतना तो अपने सुपुत्रों लव-कुश को भी नहीं दिया होगा। भगवान् में भक्त की भक्ति स्पृहणीय या वरणीय होती है। पर माता सीता अपूर्व-अनुपम आशीर्वाद हनुमान् को देती हैं।[१०]

'रामचरितमानस' के अनुसार भक्त को भगवान् की शरण में जाने से पहले अपने भीतर विभीषण के समान मानसिक संस्कारों का शोधन-बोधन-निष्कासन करना और सांसारिक विकारों की गाँठों को खोलना अनिवार्य है। विभीषण को 'संत' की संज्ञा से विभूषित करते हुए शिवजी कहते हैं हे उमा! संत की यह महिमा है कि वे बुराई करने पर भी (बुराई करने वाले रावण की) भलाई ही करते हैं। समुद्रपार पहुँचने पर एक ओर वानर उसे शत्रुदूत जानते हैं। दूसरी ओर सुग्रीव विभीषण के आने पर राक्षसों की माया पर सन्देह करता है, विभीषण को बाँध देने का सुझाव देता है-

**भेद हमार लेन सठ आवा।**
**राखिअ बाँधि मोहि अस भावा।।**

भगवान् श्रीराम कहते हैं-

**सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी।**
**मम पन सरनागत भयहारी।।**

---

८. डॉ. हरिहर गोस्वामी, 'रामचरितमानस और आधुनिक मनोविज्ञान'- पृ. २०१

९. डॉ. नीरजा सूद, 'सीता का प्रतीकार्थ विवेचन' (संपा.) अरविन्द पराशर, रामचरितमानस का प्रतीकार्थ विवेचन, सनातन धर्म कालेज, पृ. ९०, होशियारपुर।

१० डॉ. महेश शर्मा, 'पञ्चतीर्थ', तुलसी-मानस मन्थन, पृ. १२३

इन वचनों से हनुमान् प्रभु श्रीराम की शरणागत वत्सलता से हर्षित हो जाते हैं। विभीषण के भगवान् राम की शरण में आने पर रामभक्त हनुमान् ने अपने सन्त स्वभाव, उदारता, उपकार, परायणता का परिचय दिया-

**सुनि प्रभु बचन हरष हनुमान।**
**सरनागत बच्छल भगवाना।।**

डॉ. विष्णुकान्त शास्त्री मानते हैं कि भक्त की प्रेम-भावना के वशीभूत हो भगवान् राम भक्त के अपराधों और पापों को भी अनदेखा कर देते हैं। भगवान् श्रीराम 'तामस देह' के कारण कुंठित विभीषण को अपनी विशाल भुजाओं से जकड़ लेते हैं। उसे हृदय से लगाकर, शोकमुक्त करते हुए, आश्वासन देने वाली वाणी कहते हैं-[११]

**तजि मद मोह कपट छल नाना।**
**करउँ सद्य तेहि साधु समाना।**

डॉ. महेश शर्मा 'पञ्चतीर्थ' की दृष्टि में प्रभु की ऐसी घोषणा को सुनकर भक्त की अधीरता दूर हो जाती है, भगवद्शरण भक्त के लिए कल्पवृक्ष की सुखद छाया बन जाती है। यही तो पतित-पावन की पावनता-दयालुता है।[१२] करोड़ों जन्मों के पापों से मुक्ति देने वाले भगवान् श्रीराम के सन्मुख होने मात्र से जीव का उद्धार हो जाता है और भगवान् की शरण प्राप्त हो जाती है-

**कोटि विप्र बध लागहिं जाहू,**
**आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू।**
**सनमुख होई जीव मोहि जबहीं,**
**जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं।।**

डॉ. विष्णुकान्त शास्त्री ने माना है कि बाहरी संत्रास से भी अधिक भयावह भीतरी संत्रास को नवजीवन के उल्लास में बदल देने में यह उक्ति मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए आज भी कल्पलता के समान है।[१३] डॉ. भगवानशरण भारद्वाज ने माना है कि मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने कहा यदि शत्रु भी शरण में आये और दीनभाव से हाथ जोड़कर दया की याचना करे तो उस पर प्रहार नहीं करना चाहिए। शत्रु दुःखी हो या अभिमानी, यदि वह अपने विपक्षी की शरण में जाय तो शुद्ध हृदय वाले श्रेष्ठ पुरुष को अपने प्राणों का मोह छोड़कर उसकी रक्षा करनी चाहिए। यदि वह भय, मोह अथवा किसी कामना के वशीभूत होकर न्यायानुसार यथाशक्ति उसकी रक्षा नहीं करता तो उसके इस पापकर्म की निन्दा सारे संसार में होती है। शरणागत की रक्षा न करना

---

११. डॉ. विष्णुकान्त शास्त्री, तुलसी के हिय हेरि, पृ. ६७
१२. डॉ. महेश शर्मा, 'पञ्चतीर्थ', तुलसी-मानस मन्थन, पृ. १२२
१३. डॉ. विष्णुकान्त शास्त्री, तुलसी के हिय हेरि, पृ. ६८

महान् दोष है। शरणागत का त्याग स्वर्ग और सुयश की प्राप्ति को मिटा देता है और मनुष्य के बल-वीर्य का नाश करता है। जो एक बार भी शरण में आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' यह कह कर रक्षा की प्रार्थना करता है, उसे मैं अभय प्रदान करता हूँ, यह मेरा व्रत है।[१४]

डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने स्वीकार किया है कि राम की शरण में जाते हुए किसी को अपने घोर पापों के कारण भी डरने की आवश्यकता नहीं। अपने इस शरणागत-रक्षण-धर्म का अत्यन्त सुन्दर विशद निरूपण राम स्वत: विभीषण की शरणागति के अवसर पर करते हैं। भगवान् श्रीराम का कथन है कि जीव संसार से व्याकुल होकर उनकी ओर अग्रसर होता है, उसी समय उस के समस्त पापों का अंत हो जाता है। जीव का रामोन्मुख होना उसके सम्पूर्ण अघों का निराकरण है। कारण यह है कि समस्त पाप मन की विकृति से होते हैं। उनका संस्कार मन पर भी पड़ता है। इसीलिए उस समय तक जीव रामोन्मुख होता ही नहीं, जब तक कि उसका हृदय निष्कलुष और निर्मल नहीं हो जाता है। भगवान् का यह प्रणत-रक्षण धर्म ही भागवतों का एकमात्र अवलम्ब है।[१५]

निष्कर्षत: 'रामचरितमानस में शरणागतवत्सलता की घोषणा' भक्तिसूत्र का निर्देश है। भक्त का पवित्र संस्कारों को धारण कर भगवान् श्रीराम का शरणागत हो जाना 'रामभक्त' की परिभाषा है। मानवमन में अज्ञान का अंधेरा मानसिक विकारों से है। प्रभु श्रीराम की शरण भक्त के लिए प्रकाश स्वरूप एवं कृपास्वरूप है। सच्चा आनन्द, सच्ची खुशी और वास्तविक प्रकाश प्राप्त करने का एक स्वर्णिम अवसर राम की शरण ही है। प्रभु श्रीराम भक्त के अवगुणों को भूल, मात्र उसकी 'रक्षा की प्रार्थना' स्वीकार करने वाले हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने विभीषण के माध्यम से सांसारिक और पारिवारिक तिरस्कार से पीड़ित मानव को भगवान् श्रीराम की शरण दिलाकर आज के भटके दिशाहीन मानव को भक्ति का आदर्शपथ निर्दिष्ट किया है। आज के तनाव ग्रस्त मनुष्य को मात्र अपना मन-संस्कार शुद्ध करना है। अपने भक्तिभावों को पवित्रता और गहराई देनी है कि हे प्रभु 'मैं तुम्हारा हूँ। तुम्हारी शरण में हूँ।' आज के भौतिकवादी दौर में मानवीय विकारों पर विजय पाने का एकमात्र उपाय भगवान् श्रीराम की शरणागतवत्सलता ही है।

-705, जालन्धर कुंज, कपूरथला रोड़, जालन्धर-144013

१४. डॉ. भगवानशरण भारद्वाज, रामचरितमानस और आधुनिक जीवन की समस्याएँ, पृ. ९४

१५. डॉ. माताप्रसाद गुप्त, तुलसीदास, पृ. ४१८

# त्रिकशास्त्रोक्त पञ्चकञ्चुक-एक विवेचन

– डॉ. सुधांशु कुमार षड़ङ्गी

परमशिवभट्टारक का ऐश्वर्य ही चित्-आनन्द-इच्छा-ज्ञान-क्रिया- इन पांचों शक्तिरूपों से अभिव्यक्त होता है। वह चिन्मात्रस्वभाव वाला होने से चिन्मय की स्थिति में शिवतत्त्व कहा जाता है। वह अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति से अपनी शक्तियों को विविध अवस्थाओं में अभिव्यक्त करता है। स्वातन्त्र्य की इस विमर्शदशा में 'अहमस्मि' की प्रतीति होती है। इसमें शक्तितत्त्व का यामल सङ्घट्ट रहता है। जब विमर्श की स्थिति में इच्छाशक्ति का प्राधान्य होता है, तब वह सदाशिवतत्त्व कहलाता है। इस दशा में 'अहम् इदम्' का परामर्श होने लगता है। इसमें अहमंश शुद्धचिन्मात्र का आधार है तथा उसमें वह इदमंश को उल्लसित कर देता है। इसमें इदमंश अस्फुट रहता है। इसी को क्षेमराज ने कहा भी है–

**सदाशिवतत्त्वे अहन्ताच्छादित**

**अस्फुटेदन्तामयं यादृशं परापररूपं विश्वं ग्राह्यम्।**[१]

ज्ञानशक्ति के प्राधान्य में ईश्वरतत्त्व कहलाता है। इसमें 'इदमंश' स्फुट होकर 'इदम् अहम्' का बोध होता है। क्रियाशक्ति के प्राधान्यरूप विद्यातत्त्व में यह परामर्श पूर्णतया भिन्न होता है। इसमें पार्थक्य का प्रथन तथा 'इदमंश' पूर्णतया स्फुरित हो जाता है। इन सभी अवस्थाओं में शिव के प्राच्यरूप का स्खलन नहीं होता है। इस प्रकार इन पाँचों शक्तियों के सामानाधिकरण्य से एकात्मना स्थित रहते हुए भी अख्याति के कारण पञ्चकञ्चुकों से संवलित होकर पञ्चकस्वरूप को प्राप्त कर लेता है। ये शक्ति आदि तत्त्वसमूह पशु के कञ्चुक कहलाते हैं।

यह माया के कारण ही सम्भव होता है, क्योंकि माया परमतत्त्व के स्वरूप को छिपा लेती है। इससे शिव के साथ ऐकात्म्यभाव से स्थित विश्व भी विलुप्त हो जाता है। इन पञ्चकों को स्पष्ट करते हुए विमर्शिनी में भी कहा गया है–

**परिमितत्वं च शून्यादेरहंभावस्य यत् तदेव कालादि पञ्चकम्।**[२]

इन पांचों तत्त्वों को माया के साथ

१. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, ३

२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (ई०प्र०वि०), ३/१/१९ इसके स्पष्टीकरण में भास्करीकार ने कहा है–

स्वप्रमेयाद् व्यतिरेकेण भाननिमित्तकः परिमितत्वाख्यो गुणश्च मायानन्तरभावि..... पञ्चकं भवतीत्यर्थः। तदेव, ३/१/९

अन्तरङ्ग कञ्चुक कहा जाता है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा आदि में कञ्चुक-पञ्चकों की चर्चा की गई है। परन्तु श्रीतन्त्रालोक आदि में कञ्चुकों में माया को ग्रहण कर कञ्चुकों की संख्या छः कही गई है। यह कथञ्चित् उचित भी प्रतीत होता है। क्योंकि कञ्चुक शिव को संकुञ्चित कर जीव बना देता है। इन छः कञ्चुकों से संकुचित होने पर वेदन परिमित हो जाता है। यह वेदनपरिमितता अणु है। इसलिए जीव को अणु कहा जाता है। क्षेमराज आदि आचार्यों ने पाँच कञ्चुकों को ही ग्रहण किया है। इन्होंने कञ्चुकों में माया का ग्रहण नहीं किया है। प्रस्तुत शोधपत्र में इन पाँच कञ्चुकों पर ही विचार किया जाएगा। ये पाँच कञ्चुक जैसे- कला, विद्या, राग, काल और नियति। यह क्रम मालिनीविजयोत्तरतन्त्र में प्राप्त होता है।[३]

श्रीतन्त्रालोक के अनुसार शिवतत्त्व से लेकर शुद्धविद्यातत्त्व तक जो शिव का अपना शरीर है, वह माया से लेकर राग तक पुरुष का कञ्चुक हो जाता है। क्योंकि अनाश्रित शिव माया, सदाशिव कला और विद्या, ईश्वर काल और नियति तथा शुद्धविद्या राग कही जाती है।[४]

**१. कलाः**- स्वरूप के गोपन होने के कारण निरुद्ध शक्तिवाले शिवभट्टारक की जो किञ्चित्कर्तृत्वरूप उद्वलनात्मिका शक्ति है वह प्राण आदि प्रमाता की स्थिति में पुरुष का विक्षेप करने वाली कला कही जाती है। श्रीतन्त्रालोक के अनुसार निरुद्धशक्ति वाले परमेश्वर की किञ्चित्कर्तृता की उपोद्वलनात्मिका शक्ति है।[५]

वस्तुतः कल् धातु विक्षेप अर्थ में भी प्रयुक्त होती है। जैसे- कल् क्षेपे (धातुपाठ, १६०६) कलयति इति कला (कल्+अच्+टाप्)। यहां पर स्वरूपगोपन की दशा में जो उद्वलनात्मिका शक्ति रहती है, उससे माया पुरुष को अशुद्ध अध्वा में धकेलती है। अतः इसे क्षेप्त्री कहा जाता है। विक्षेप अर्थ के प्राधान्य की दृष्टि से इस क्षेप्त्री शक्ति का नाम कला कहा गया है। इस दशा में केवल अधः प्रक्षेप होता है। यह कला मायातत्त्व से प्रादुर्भूत है। यह सर्वकर्तृत्वसम्पन्न को किञ्चित्कर्तृत्व सम्पन्न बना देती है। कहा गया है-

**मायातत्त्वात् कला जाता किञ्चित्कर्तृत्वलक्षणा।**[६]

यह कला शुद्ध और अशुद्ध भेद से दो प्रकार की है। शुद्धकला परमेश्वर-कर्तृत्व का आकलन करती है। तथा परविमर्शनमात्रस्वभावरूपा है।[७] तन्त्रसार के अनुसार परमेश्वर के पूजनादि विषयक होने से स्वरूप लाभ के अनुगुण अपना

३. मालिनीविजयोत्तरतन्त्र (मा०वि०त०), १/२७,२८,२९
४. श्रीतन्त्रा०, ६/४१,४२,४३
५. तदेव, ९/१५५-b, १५६-a
६. श्रीतन्त्रा०, ९/१७४, तुलनीय मा.वि.त., १.२७
७. श्रीतन्त्रा०वि०, १/१

कार्य जो मुक्ति आदि है उसे शुद्धकलादि वर्ग करता है।[८] अशुद्ध कला इससे विपरीत है। यह सुषुप्त अणु (जीव) को किञ्चित्कर्तृत्व से जोड़ती है।[९]

श्रीतन्त्रालोक के अनुसार शुद्धकला और अणु के पारस्परिक आसक्तिमय संश्लेष से अशुद्ध कलातत्त्व उत्पन्न होता है।[१०] यहां पर सम्भवतः शुद्धकला माया को ही कहा जाता होगा, क्योंकि तन्त्रसार के अनुसार माया और अणु का परस्पर संश्लेष ही विश्वोन्मेष का कारण है। इस माया और अणु का संश्लेष ही कलातत्त्व के प्रादुर्भाव में हेतु है। यह कला माया को विकारी बना देती है तथा निर्विकार अणु (भुक्त जीव) को प्रभावित नहीं कर पाती है। क्योंकि तन्त्रालोक में कहा गया है कि माया एवं अणु के संयोग से उत्पन्न भी यह कला निर्विकार अणु की नहीं अपितु विकार वाली माया को उपादान कारण बनाती है।[११]

अतः विकारी माया का कला कार्य होने से माया कला का उपादान कारण है और यह कलातत्त्व ही किञ्चित्कर्तृत्व देने वाला है। कला का कर्त्ता के साथ सम्बन्ध विद्यादि अन्य कञ्चुकों की भांति कारणवत् नहीं है। इसका सम्बन्ध प्रयोजक की भांति है।[१२] तन्त्रालोक के अनुसार जिस प्रकार अशुद्धविद्या सामान्य ज्ञप्ति में करण का काम करती है, उसी प्रकार कला भी सामान्य कृति में करण बनती है। अतः यह कह सकते हैं कि अशुद्धविद्या से ज्ञानेन्द्रियाँ और कला से कर्मेन्द्रियां प्रेरित होती हैं।

**२. विद्याः**- त्रिकदर्शन में विद्या दो प्रकार से परिभाषित है। जैसे शुद्धविद्या और अशुद्धविद्या। इनमें से शुद्धविद्या में अहंन्ता और इदन्ता के समानाधिकरण का बोध उत्पन्न होता है तथा अशुद्धविद्या में यत्किञ्चिज्ज्ञत्व का बोध होता है। यह अशुद्ध विद्यातत्त्व कलातत्त्व से उत्पन्न हुआ है। जैसे कि तन्त्रसार में कहा गया है कि-

**किञ्चिज्ज्ञत्वदायिन्यशुद्धविद्या कलातो जाता।**[१३]

मालिनीतन्त्र के अनुसार माया ने जातकर्तृत्व सामर्थ्यमयी विद्या को उत्पन्न किया। विद्या अणु के कार्यकारण परिवेश में उसके कर्म का विवेचन करती है[१४] और इसमें यह भी कहा गया है कि पुरुष में कर्मरूप जातकर्तृत्व (किञ्चित्कर्तृत्व) सामर्थ्यरूप विद्या और राग कलातत्त्व के पश्चात् उत्पन्न हुए। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध मत उपस्थित

८. तन्त्रसार, ८ ९. तदेव, ९ १०. श्रीतन्त्रा०, ९/१७६
११. तदेव, ९/१७९ १२. तदेव, ९/१८३ १३. तन्त्रसार, ८
१४. विद्या विवेचयत्यस्य कर्म तत्कार्यकारणे, मा०वि०त०, १/२८

होने पर यह कह सकते हैं कि माया से कलातत्त्व उत्पन्न हुआ है और कलातत्त्व से विद्या और राग को उत्पन्न होने के लिए माया ने प्रेरित किया है।

अणु में विद्यमान प्रत्ययों को बुद्धि के दर्पण में देखने वाली तथा विवेचन करने वाली विद्या है। यहां विद्या करण के रूप से स्वीकृत है। जयरथ के अनुसार जिस प्रकार नाथ की किञ्चिदुद्वलनात्मिका शक्ति कला कही जाती है, उसी प्रकार किञ्चिद्वेदनात्मिका शक्ति विद्या कहलाती है।[१५] यह विद्या बुद्धि को देखती है तथा बुद्धिगत सुख, दुःख आदि को विविक्तबुद्धिपूर्वक ग्रहण करती है। बुद्धि जब गुणों से सङ्कीर्ण हो जाती है, तब वह विवेक से ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती है। जिसके कारण बुद्धिरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित सभी भाववर्ग विद्या के द्वारा ही विवेचित होते हैं।

**३. राग :-** कलातत्त्व किञ्चित्-कर्त्तृत्व को प्रकाशित करती हुई कार्य को उद्‌बुद्ध करती है, जिसके फलस्वरूप किञ्चिज्जानामि किञ्चित्करोमि- इस प्रकारक अनुभव होता है। इसी अंश में किञ्चिद्रूप के साथ समानता होने पर यह किञ्चित्त्व किस लिए हैं? इस अर्थ में अभिष्वङ्गरूप प्रमाता, देहादि और प्रमेय में गुण का आरोप कर देने के सदृश राग होता है, और यह राग बुद्धि में होने वाली अवैराग्य ही है। तथा यह स्थूलरूप से अनुभूत है।[१६] यह राग परमेश्वर की नित्य, परिपूर्णतृप्त नामक शक्ति परिमित होकर जीव को भोगों में अनुरक्त करती है। जहां अभीष्ट वस्तु के ग्रहण के लिए अभिमत आसक्ति ही राग है।

**४. काल-** तुटि, पल, अतीत, वर्तमान, अनागत आदि स्वरूपों का कलन करने वाला तत्त्व काल कहलाता हैं। क्योंकि तुटि, पल आदि समयविभाजक क्षण हैं। इन क्षणों में ही कार्य सम्पादित होते हैं। कार्य और कर्ता में समवाय-सम्बन्ध होने से कार्य के साथ-साथ तदवच्छिन्न कर्त्ता का भी कलन काल करता है।[१७] षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह के अनुसार जब परमेश्वर की अनवच्छिन्न नित्यता शक्ति संकुचित होकर आत्मा को जन्म-मरण प्रदान करती हुई परिच्छिन्न बना देती है, तब उस शक्ति को ही कालतत्त्व कहते हैं। जिससे अणु जीव, भूतादि क्रिया-क्रम से युक्त होकर काल के अधीन हो जाता है।[१८]

यह कञ्चुक काल अनवच्छिन्न अहं

---

१५. श्रीतन्त्रा०वि०, ९/१५६

१६. ई०प्र०वि०, ३/१/९

१७. कालोऽपि कलयत्येन तुट्यादिभिरवस्थितः, मा०वि०त०, १/२९

१८. ष०त०सं०, ११

परामर्शात्मक शुद्ध कार्य का कलन नहीं करता हैं अपितु अशुद्ध घट-पटादि मायीय कार्यों की कलना करता है। यहां पर जीव का कर्तृत्व काल के आकलन रूपी धर्म से अवच्छिन्न हो जाता है।[१९]

४. नियतिः- परमेश्वर की स्वातन्त्र्यशक्ति संकुचित होकर नियति कञ्चुक के रूप से प्रकाशित होती है। क्योंकि कार्याकार्य में नियम का आधान करने से विशिष्टकार्य में विशिष्टकारण का आधान करना चाहिए, न कि अनियत कार्य में। इससे कला आदि कञ्चुकों से अवच्छिन्न जीव शक्तिदारिद्र्य का अनुभव करते हुए कला आदि द्वारा स्ववैभव का किञ्चिदंश ग्रहण करके पशुपद को प्राप्त कर जाता है।[२०]

मालिनीतन्त्र के अनुसार स्वकर्म में पुद्गल पुरुष को नियोजित करने वाला तत्त्व नियति कञ्चुक है।[२१] यह नियति विशिष्टकार्यव्यापार के समूहात्मक सम्भार में योजना का विधान करने वाला तत्त्व है। जैसे- इस कारण से यही कार्य होना चाहिए- यह नियम नियति नियमन करती है। इस नियमन से उपादान और हान में किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं रहती है। क्योंकि इसके द्वारा नियत अर्थ क्रिया को सम्पादन करने वाला जीव नियतवस्तु का ही उपादान ग्रहण करता है।

वस्तुतः श्रीतन्त्रालोक के अनुसार कलातत्त्व से ही विद्या, राग, काल और नियति उत्पन्न होते हैं और इनके साथ ही प्रकृति, इन्द्रियाँ और इनके विषय भी शुद्ध हो जाते हैं। इसके कारण भगवान् में आसक्ति राग से उत्पन्न होती है, तद्विषयगत विवेक को विद्या उत्पन्न करती है, भगवद्विषयक उपदेशादि का आकलन काल करता है तथा उसके आराधनादि में नियमन नियति करता है। यह मत श्रीविद्याधिपति कृत मानस्तुति नामक प्रमाणस्तोत्र में प्रमाणित होता है।[२२]

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रादि के अनुसार माया से ही कलादि पाँच कञ्चुक उत्पन्न हुए हैं। इनके साथ ही प्रकृति और पुरुषतत्त्व भी उत्पन्न हुए हैं। अतः ये पाँचों कञ्चुक माया के कार्य हैं।[२३] परन्तु श्रीतन्त्रालोक के अनुसार विद्या, राग, काल और नियति- ये चार कला के ही कार्य हैं।[२४]

इससे यह ध्वनित हो रहा है कि माया

---

१९. तन्त्रसार, ८

२०. ष०त०सं०, १२

२१. नियतिर्योजयत्येनं स्वके कर्मणि पुद्गलम्।, मा०वि०त०, १/२९

२२. श्रीतन्त्रा०, ९/१७३,

२३. स्वच्छन्द० ११/६३,६४

२४. श्रीतन्त्रा०, ९/२०३

से कला तथा कला से शेष चार तत्त्व उत्पन्न हुए हैं। श्रीमालिनीतन्त्र भी कथञ्चित् इसका समर्थन करता है।[२५] तन्त्रसार में भी यही कहा गया है।[२६]

इन कञ्चुकों के पौर्वापर्य में भी त्रिकशास्त्र में मतैक्य नहीं है। मालिनीतन्त्र में पहले नियति उसके पश्चात् काल, वैसे ही श्रीपूर्वशास्त्र में भी नियति के अनन्तर काल का उल्लेख प्राप्त होता है। परन्तु स्वच्छन्दादि तन्त्रशास्त्रों में पहले काल तदनन्तर नियति का उल्लेख मिलता है। क्षेमराज ने भी काल के अनन्तर नियति का ग्रहण किया है। इस प्रसङ्ग में यह कहा जाता है कि प्रतिनियत वस्तु में नियोजन ही नियति का व्यापार है और वह काल के बिना नहीं हो सकता। अतः काल का ग्रहण पहले करना उचित होगा। अथवा यह भी हो सकता है कि काल और नियति एक साथ उत्पन्न हुए हों। इसलिए इसमें क्रमविचार सम्भव नहीं हो सकता। श्रीतन्त्रालोक में यद्यपि अभिनव गुप्त ने नियति से पहले काल को स्वीकारा है तथापि श्रीपूर्वशास्त्रादि के अभिमत नियति के अनन्तर काल के क्रम का खण्डन नहीं किया है। जयरथ ने विवेक में भी इसका स्पष्ट समाधान दिया है।[२७]

**सहाचार्य, विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु- संस्कृत-भारत-भारती-अनुशीलन-संस्थानम्,**
**( पंजाब विश्वविद्यालय ) साधु आश्रम, होशियारपुर।**

२५. मा०वि०त०, १/२७
२६. तेन कलात एव एतच्चतुष्कं जातम्, तन्त्रसार, ८
२७. श्रीतन्त्रा०वि०, ९/२०३

# वेदाङ्गों का महत्त्व

– डॉ. विवेकानन्द भट्ट

वेद धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार प्रकार के पुरुषार्थों के प्रतिपादक हैं जो अंगों के द्वारा व्याख्यात होते हैं। अतः वेदांगों का अतिशय महत्त्व है।

काव्यशास्त्र में 'अंग' का अर्थ होता है, उपकार करने वाला। अर्थात् वेदों के वास्तविक अर्थ का भली-भाँति दिग्दर्शन कराने वाला ही वेदांग है। जैसा कि कहा गया है–

**अङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते अमीभिरिति अंगानि।।**

अर्थात् जिस से किसी तत्त्व के परिज्ञान में सहायता प्राप्त होती है, वे अंग कहलाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वेदों के अर्थज्ञान में और वैदिक कर्मकाण्ड-प्रतिपादन में जो सक्षम और सार्थक शास्त्र हैं, वे वेदाङ्ग हैं। ये वेदाङ्ग– शिक्षा, कल्प व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष हैं। इन वेदाङ्गों के नाम तथा क्रम का उल्लेख सर्वप्रथम मुण्डकोपनिषद् में प्राप्त होता है।[१] इन सभी वेदाङ्गों को समझने के लिए क्रमशः नीचे दिया जा रहा है–

**शिक्षा-३/१/१** :- जिसके द्वारा हमें वैदिक मन्त्रों के शुद्धातिशुद्ध उच्चारण का ज्ञान होता है, उन्हें शिक्षा के नाम से जाना जाता है। इसे वेदरूपी पुरुष की नासिका भी बताया गया है।

**शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य।**

वेद के उच्चारण को ठीक ठीक रूप में करने के लिए स्वरज्ञान की नितान्त आवश्यकता होती है। ये उदात्त-अनुदात्त-स्वरित भेद से तीन प्रकार के होते हैं, जिन्हें पाणिनि ने क्रमशः-उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः तथा समाहारस्वरितः कहा है। वैदिक-साहित्य में स्वर-प्रक्रिया का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है इसका कारण है 'अर्थनियामकता'। 'इन्द्रशत्रुर्वर्द्धस्व' इसका सुप्रसिद्ध उदाहरण है। तैत्तिरीयोपनिषद् की प्रथम वल्ली में शिक्षा के छः अङ्गों- (१) वर्ण (२) स्वर (३) मात्रा (४) बल (५) साम (६) सन्तान का विवेचन किया गया है। आचार्य पाणिनि ने अपनी ऋग्वैदिक शिक्षा में

१. मुण्डकोपनिषद्- १/५

वेदपाठ करने वाले के छः गुणों तथा छः दोषों का उल्लेख किया है[२]।

ऋग्वैदिक शिक्षा-ग्रन्थों में पाणिनीय-शिक्षा, याज्ञवल्क्यशिक्षा, वाशिष्ठीशिक्षा, माण्डव्यशिक्षा, भरद्वाजशिक्षा, माध्यन्दिनीशिक्षा तथा अवसाननिर्णयशिक्षा का नाम लिया जाता है। सामवेद की नारदीयशिक्षा तथा शाकटायन कृत 'ऋक्तन्त्र' एवं अथर्ववेद की माण्डूकीशिक्षा, कौत्सप्रणीत शौनकीया चतुरध्यायिका प्रतिनिधिशिक्षा ग्रन्थ है। यद्यपि इनके अतिरिक्त व्यासशिक्षा, कात्यायनीशिक्षा, पाराशरीशिक्षा, अमोघानन्दिनीशिक्षा, वर्णरत्नप्रदीपिकाशिंक्षा, केशवीशिक्षा, मल्लशर्मशिक्षा, स्वराङ्कुशशिक्षा, षोडशश्लोकी शिक्षा, स्वरभक्तिलक्षणशिक्षा, प्रातिशाख्य-प्रदीपशिक्षा, क्रमसन्धानशिक्षा, गलदृक्शिक्षा, मनःस्वारशिक्षा, इत्यादि अनेक शिक्षाग्रन्थों के नाम कहे गए हैं। किन्तु मुख्य रूप से उपरिवर्णित शिक्षाग्रन्थों को ही पाठ रूप में अपनाया तथा पढ़ाया जाता है। इनके अतिरिक्त कुछ शिक्षासूत्र भी बताये गये हैं, जैसे आपिशलि, पाणिनि तथा चन्द्रगोमी रचित शिक्षासूत्र इत्यादि।

**कल्प**- जिन ग्रन्थों में यज्ञ के प्रयोगों की प्रक्रिया का समर्थन किया जाय उन्हें कल्प के नाम से जाना जाता है-

**कल्प्यन्ते समर्थ्यन्ते यज्ञ-यागादि-प्रयोगाःयत्र इति कल्पः।**

इसी को दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि- वेद में विहित कर्मों को क्रमपूर्वक व्यवस्थित करना कल्प कहलाता है-

**कल्पोंवेद विहितानां कर्मणामानुपूर्वेण कल्पनाशास्त्रम्।**

इस प्रकार कल्पशास्त्र को वेदपुरुष का हाथ स्वीकार किया गया है- **हस्तो कल्पोऽथ पठ्यते** ये कल्पग्रन्थ सूत्रशैली में निबद्ध हैं, अतः इन्हें कल्पसूत्र भी कहा जाता है। इन्हें चार श्रेणियों में विभक्त किया गया है। (१) श्रौतसूत्र (२)गृह्यसूत्र (३) धर्मसूत्र (४) शुल्बसूत्र।

**१. श्रौतसूत्र** - श्रौतसूत्रों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय श्रुतिप्रतिपादित महत्वपूर्ण यज्ञों-दर्शपौर्णमास, पिण्डपितृ, आग्रायणेष्टि, चातुर्मास्य सोमयाग, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध इत्यादि का क्रमबद्ध वर्णन करना है। ऋग्वैदिक श्रौतसूत्रों में आश्वलायनश्रौतसूत्र तथा शाङ्खायन या कौषीतकि श्रौतसूत्र का नाम लिया जाता है। शुक्लयजुर्वेद के कात्यायन पारस्कर श्रौतसूत्र, आपस्तम्ब, बौधायन, हिरण्यकेशी (सत्याषाढ़) वैखानस,

२. पाणनीयशिक्षा-३२

भारद्वाज, मानव, मैत्रायणी, वाराह एवं वाधूल श्रौतसूत्र कृष्ण यजुर्वेद पर उपलब्ध होते हैं। सामवेदीय श्रौतसूत्रों में लाट्यायन, द्राह्यायण, मसक या आर्षेय, खादिर तथा जैमिनीय श्रौतसूत्र के नाम उल्लेखनीय हैं। अथर्ववेद पर एक मात्रवैतानश्रौतसूत्र ही उपलब्ध होता है।

**२. गृह्यसूत्र**- इसके अन्तर्गत गृह्याग्नि में सम्पूर्ण होने वाले-पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, गोदान, उपनयन, विवाह, अन्त्येष्टि इत्यादि विभिन्न सांस्कारिक यागों का विवेचन हैं। ऋग्वैदिक गृह्यसूत्रों में आश्वलायन, शांखायन (कौषीतकि) शाम्बय तथा यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में कात्यायन (पारस्कर) या कातीय तथा वाजसनेय गृह्यसूत्र शुक्लयजुर्वेद एवं आपस्तम्ब, बौधायन, सत्याषाढ़, वैखानस, भारद्वाज, वाधूल तथा कठगृह्यसूत्र कृष्णयजुर्वेद के हैं। सामवेदीय गृह्यसूत्रों में खादिर, गोभिल, गौतम व जैमिनीय-गृह्यसूत्र प्रसिद्ध हैं। अथर्ववेद पर एकमात्र कौशिक गृह्यसूत्र ही उपलब्ध होता है।

**३. धर्मसूत्र**- धर्मसूत्रों में यद्यपि गृह्यसूत्रों से ही सम्बद्ध विषयों का विवेचन किया गया है किन्तु दोनों में दृष्टिभेद से अन्तर पाया जाता है। गृह्यसूत्रों में अनुष्ठानों के आकार-प्रकार पर बल दिया गया है पर धर्मसूत्रों में आचार, कर्त्तव्य, कर्म, व्यवहार, राजधर्म प्रायश्चित्त इत्यादि का विवेचन किया गया है। कृष्ण-यजुर्वेद पर बौधायन, वशिष्ठ हिरण्यकोशि, वैखानस विष्णु तथा आपस्तम्ब तथा हारीत एवं शुक्लयजुर्वेद पर शंखधर्मसूत्र उपलब्ध हैं। ऋग्वेद पर वशिष्ठधर्मसूत्र तथा सामवेद पर गौतमधर्मसूत्र उपलब्ध हैं। अथर्ववेद पर कोई भी धर्मसूत्र उपलब्ध नहीं है।

**४. शुल्बसूत्र**- शुल्बसूत्र का अर्थ होता है- रज्जु (रस्सी) अर्थात् रज्जू के द्वारा मापी गई वेदी की रचना शुल्बसूत्र का प्रतिपाद्य विषय है। भारतीय रेखागणितीय ऐतिहासिक जानकारी की दृष्टि से ये अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ हैं। ये शुल्बसूत्र मात्र यजुर्वेद पर ही प्राप्त होते हैं। जिसमें शुक्लयजुर्वेद पर एकमात्र कात्यायन शुल्बसूत्र तथा कृष्णयजुर्वेद पर बौधायन, आपस्तम्ब, मानव-मैत्रायणीय, वाराह एवं वाधूल शुल्बसूत्र उपलब्ध होते हैं।

**व्याकरण**- 'व्याकरण' वह वेदाङ्ग है जो पदों की प्रकृति तथा प्रत्यय का उपदेश देकर पदों के स्वरूप का परिचय कराता है-

**व्याक्रियन्ते शब्दाः अनेनेति व्याकरणम्।**

इसे वेदरूपी पुरुष का मुख स्वीकार किया गया है-

**मुखं व्याकरण स्मृतम्।**

वार्तिककार आचार्य कात्यायन ने

व्याकरण शास्त्र के (१) रक्षा (२) ऊह (३)आगम (४) लघु (५) असन्देह पांच प्रयोजन गिनाये हैं। यद्यपि व्याकरण सम्प्रदाय के अनेक भेदों का वर्णन मिलता है। जैसे कि वोपदेव ने आठ भेदों का वर्णन किया है पर इन सभी में पाणिनि व्याकरण को ही अधिक अधिमान दिया गया है।

**पाणिनि व्याकरण**- सम्प्रति 'व्याकरण-वेदाङ्ग' का प्रतिनिधित्व करने वाला ग्रन्थ एकमात्र पाणिनि व्याकरण है, इस ग्रन्थ में कुल आठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय चार-चार पादों में तथा ये पाद सूत्रों में विभक्त हैं। इस ग्रन्थ को प्रायः अष्टाध्यायी, शब्दानुशासन तथा वृत्तिसूत्र इन नामों से भी जाना जाता है। अब इस ग्रन्थ पर अनेक वृत्तियाँ, भाष्य, वार्तिक, टीकायें, प्रटीकायें लिखी जा चुकी हैं। दर्शनप्रधान-व्याकरणशास्त्र के रूप में भर्तृहरिरचित 'वाक्यपदीय' संस्कृत-साहित्य की एक अमूल्य निधि है।

**निरुक्त**- 'निरुक्त' निघण्टु के ऊपर लिखी गई टीका है जिसका कार्य है, वैदिक पदों की व्युत्पत्ति बतलाना। वर्तमान समय में एकमात्र निघण्टु उपलब्ध होता है इसी के ऊपर महर्षि यास्करचित निरुक्त पाया जाता है। निघण्टु में कुल पाँच अध्याय हैं, जिसमें प्रारम्भिक तीन अध्यायों को नैघण्टुक काण्ड, चौथे को नैगमकाण्ड तथा पाँचवे को दैवतकाण्ड के नाम से जाना जाता है। निघण्टुकाल के अनन्तर निरुक्तों का समय प्रारम्भ होता है। दुर्गाचार्य जी ने अपनी दुर्गावृत्ति में निरुक्तकारों का उल्लेख किया है जबकि महर्षि यास्क ने (१)आग्रायण (२) औपमन्यव (३)औदुम्बरायण (४)और्णवाभ (५) कात्थक्य (६) क्रौष्टुकि (७) गार्ग्य (८)गालव (९) तैटीकि (१०) वार्ष्यायणि (११) शाकपूणि (१२) स्थौलाष्ठीवि। इन १२ निरुक्तकारों का उल्लेख किया है। किन्तु इन सभी में अत्यधिक उपयोगी होने कारण यास्ककृत निरुक्त को ही विशेष रूप से गिना जाता है।

**यास्ककृत निरुक्तम**- यह सम्पूर्ण ग्रन्थ १४ अध्यायों में विभक्त है। जिसमें अन्तिम दो अध्याय परिशिष्टरूप में दिये गये हैं। इसमें वैदिकशब्दों के निर्वचन के अतिरिक्त, भाषा-विज्ञान, साहित्य, समाजशास्त्र व ऐतिहासिक विषयों का भी प्रसङ्गानुकूल विवेचन मिलता है। यास्क ने यहां पर वैदिक देवताओं को (१) पृथ्वीस्थानीय (२) अन्तरिक्ष स्थानीय (३)द्युस्थानीय भेद से तीन वर्गों में रखा है। इस ग्रन्थ पर यद्यपि कई-एक टीकाऐं मिलती

हैं किन्तु 'दुर्गाचार्य' व महेश्वरकृत टीका तथा निरुक्तनिचय नाम्नी टीका विशेष प्रसिद्ध हैं।

**छन्दस्**- छन्द को वेद का पैर कहा गया है। छन्दों के गान से वेदमन्त्रों में एक प्रकार की गति का भान होता है। उनमें एक गति अर्थात् लय दिखाई देती है। चूँकि वेद छन्दोमयी वाणी है। अतः वेदमन्त्रों के सम्यक् उच्चारण व भावबोधन हेतु छन्दों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। महर्षि कात्यायन का स्पष्ट कथन है कि- जो व्यक्ति-छन्द, ऋषि तथा देवता के ज्ञान से हीन होकर मन्त्र का अध्ययन-अध्यापन या यजन-याजन करते हैं, उनके वे सभी कार्य निष्फल ही होते हैं।

छन्दवेंदाङ्ग का प्रतिनिधि ग्रन्थ आचार्य पिङ्गल कृत छन्दःसूत्र माना जाता है। इस ग्रन्थ में प्रतिपादित समस्त छन्दोविचार 'यमाताराजभानसलगम्-यगण भगण, तगण, रगण, जगण भगण, नगण सगण तथा लघु (अक्षर) एवं गुरु (अक्षर) पर निहित हैं।

निरुक्तकार यास्क ने छन्द शब्द की व्युत्पत्ति छद् (ढकना) धातु से की है। इनके 'छन्द' कहलाने का रहस्य यही है कि ये वेदों के आवरण है- **छन्दांसि छादनात्।** वैदिक छन्दों की एक खास विशेषता यह भी है कि लौकिक छन्दों की तरह इनमें लघु, गुरु के क्रम का कोई विशेष नियम नहीं है। ये अक्षर गणना पर ही आधारित हैं। इसीलिए कात्यायन ने - **यदक्षरपरिमाणकं तच्छन्दः** लिखा है। यद्यपि लौकिक छन्दों में चार चरण होते हैं, परन्तु वैदिक छन्दों में ऐसा कोई नियम नहीं है। कुछ छन्द एक चरण के, कुछ तीन के, कुछ पाँच व कुछ छः पदों के भी उपलब्ध होते हैं। दूसरी बात यह है कि यदि गणना के अनुसार अक्षर निश्चित मात्रा से एक या दो न्यूनाधिक भी हो जायं तो छन्दों के स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

वैदिक छन्दों के मुख्यतया दो भेद हैं- (१) केवल अक्षर गणनानुसारी तथा (२)पादाक्षर गणनानुसारी। वेदों में प्रयुक्त कुल २१ छन्द पाये जाते हैं, जो तीन सप्तकों में विभक्त हैं।

कात्यायन सर्वानुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेद के समस्त मन्त्रों के छन्दों की संख्या इस प्रकार है- गायत्री-२४६७, उष्णिक्-३४१, अनुष्टुप्-८५५, बृहती-१८१, पंक्ति-३१२, त्रिष्टुप्-४२५३, जगति-१३५८। इस प्रकार प्रथम सप्तक की कुल ऋचाओं का योग ९७६७ है। इसके अतिरिक्त लगभग ३०० मन्त्र अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी इत्यादि विविध छन्दों में निबद्ध हैं। एकपदा

ऋचायें केवल छः तथा नित्य द्विपदा ऋचायें- १७ हैं, ऋग्वेद का सर्वाधिक लोकप्रिय छन्द त्रिष्टुप् है तत्पश्चात् गायत्री और जगती का स्थान है।

**ज्योतिष**- वेद की प्रवृत्ति यज्ञसम्पादन के लिये है और यज्ञ का विधान, विशिष्ट समय की अपेक्षा रखता है, शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि कृत्तिका में अग्नि का आधान, फाल्गुनी पूर्णमास में दीक्षा, इत्यादि विहित हैं। इस प्रकार नक्षत्र, तिथि, वार, मास, संवत्सर इत्यादि की जानकारी वैदिक कर्मकाण्ड के लिये अति आवश्यक है। अतः इनके ज्ञान के लिये ज्योतिषशास्त्र का अवगाहन जरूरी है। क्योंकि जो व्यक्ति ज्योतिष को भलीभाँति जानता है, वही यज्ञ का यथार्थ ज्ञाता है।[3]

यही कारण है कि ज्योतिषशास्त्र को 'वेदपुरुष' का नेत्र स्वीकार किया गया है- 'ज्योतिषामयनं चक्षुः' आचार्य लगध रचित वेदाङ्गज्योतिष के दो प्रतिनिधिग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, जिनका सम्बन्ध ऋग्वेद व यजुर्वेद से है। इनमें ऋग्वेद से सम्बन्धित 'आर्चाज्योतिष' ३६२ श्लोक तथा यजुर्वेद से सम्बन्धित 'याजुस् ज्योतिष' ४३२ श्लोक हैं। इन दोनों ग्रन्थों के श्लोक इतने क्लिष्ट और सारगर्भित हैं कि आज भी विद्वानों के लिये रहस्य हैं।

**संस्कृत विभाग, एच०एन०बी० गढ़वाल केन्द्रीय विश्वविद्यालय, एस०आर०टी० परिसर, बादशाही थौल, टिहरी (उत्तराखण्ड)**

३. निरुक्त- ७/१९

# सन्त श्री नामदेव जी की वाणी का महत्त्व (आधुनिक सन्दर्भ में)

– डॉ. परबजीत कौर

भारतभूमि की यह विशेषता रही है कि यहां समय-समय पर जनता को जागरूक करने एवं उसे सद्उपदेशों द्वारा सन्मार्ग प्रदर्शित कराने के लिए इस पावन धरती पर अनेक सन्त हुए हैं उनमें संत नामदेव जी का नाम सर्वश्रेष्ठ सन्तों में गिना जाता है। परमसन्त नामदेव जी भारत की भक्तिकाव्य परम्परा के शिरोमणि सन्त हुए हैं। सन्त नामदेव जी ने दक्षिणी भारत से उत्तरी भारत के सिरे पंजाब में भी भ्रमण किया। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान ने मनुष्य को आश्चर्यजनक सुख दिया है। इन भौतिक सुखों की दलदल में फंसे मनुष्य अध्यात्मवादी विचारधारा से ओत-प्रोत, नैतिक मूल्यों से विमुख हो गया है। ऐसे वातावरण में मानवता को बचाने के लिए सन्त नामदेव की वाणी का अनुसरण करने की आवश्यकता है।

भक्त नामदेव जी का जन्म ११९२ विक्रम सम्वत् २६ अक्तूबर १२७० ई. को गांव नारसी बमनी ज़िला सतारा महाराष्ट्र में हुआ। आप के पिता का नाम दामसेती और माता का नाम गोनाबाई था। छींबा जाति का होने के कारण दर्जी का व्यवसाय इन्हें विरासत में मिला। उनका विवाह ग्यारह साल की आयु में गोबिन्द शैटी सदवरते की बेटी राजाई के साथ कर दिया गया। गृहस्थ जीवन का सुख भोगते हुए भी आपका ध्यान ईश्वर भक्ति से न हटा। वह अभंग में लिखते हैं-

**शिम्पी कुल विच जन्म है मेरा,**
**पर मेरा मन रत्ता सदा शिव विच।।**
**रात नूँ सींदा हां, दिन नूँ सींदा हां।**
**मेरे जीऊ नूँ, होर कोई कम नहीं है।।**

सन्त नामदेव ने मराठी, हिन्दी और पंजाबी में ६१ शब्दों की रचना की जो श्री गुरु ग्रन्थ साहिब में १८ रागों में अलग-अलग स्थान में दर्ज़ हैं। उन्होंने अपनी वाणी में वर्तमान जीवन-निर्माण के लिए गहरी चिन्ता प्रकट की तथा मनुष्य-जीवन को संतुलित करने का प्रयास किया है। उनकी वाणी मानव-जीवन की समस्याओं की ओर संकेत करती हुई उनका समाधान भी करती है। उनकी वाणी का उद्देश्य, मानव-चेतना को जगाना, हीनभावना खत्म करना, कट्टरता दमन, जुल्म के साथ टक्कर लेना, निरर्थक मूल्यों का खण्डन और मानवता को बचाना है।

सन्त नामदेव जी की वाणी का केन्द्रीय

तत्व प्रेमाभक्ति है। इनकी वाणी में परमात्मा के निर्गुण और सगुण दोनों स्वरूपों का गायन किया गया। रहस्य-अनुभूति के समय उनके इष्टदेव का स्वरूप सगुण हो जाता है और धार्मिक बोध की परिस्थितियों के निरूपण के समय आप निर्गुण पारब्रह्म का गायन करते प्रतीत होते हैं। नामदेव जी की प्रेमाभक्ति 'सिमरन' के इर्द-गिर्द घूमती है-

**हरि-हरि करत मिटे सब भरमां।**
**हरि को नाम लै उत्तम धरमा।।**

उस समय धर्म के नाम पर समाज बुरी तरह से बंटा हुआ था। विभिन्न धर्म, विभिन्न कर्म और अनेक पूजा-विधियाँ प्रचलित थीं। कर्त्तव्य निभाने और कर्म करने की अपेक्षा बाह्य आडम्बर ही मनुष्य के जीवन का अन्तिम लक्ष्य बन गए थे। सभी विचारधाराएँ अपने धर्म को श्रेष्ठ और दूसरे धर्म को हीन समझती थीं। नामदेव की वाणी मानवता को उपदेश देती है कि हे मनुष्य! परमात्मा एक है-

**इक घट घट अंतर सरब निरन्तर केवल एक मुरारी।**

यद्यपि संत नामदेव जी दूसरे सन्तों की तरह उसको प्यारा, प्रीतम, बीठल आदि नामों से सम्बोधित करते हैं तथापि वह ब्रह्म की एकता और व्यापक अनेकता में विश्वास रखते हैं। उस तरह की अवस्था को नामदेव '**स्वै**' को सम्बोधन करके '**नामे नारायण नाही भेद**' को स्पष्ट करता है। सन्त नामदेव जी की इस तरह की विचारधारा ने भक्तजन को ब्रह्म से भी उँचा स्थान दिया है-

**दास अनिन मेरो निज रूप।।**
**मेरी बाँधी भगत छुडावै, बाँधे भगत न छूटे मोहि।**

सन्त नामदेव ने प्रेमभाव से ब्रह्मप्राप्ति करने का उपदेश दिया है। आधुनिक सन्दर्भ में मनुष्य की मनुष्य के प्रति स्वार्थभावना को प्रेमभाव के साथ परिवर्तित किया जा सकता है। इस प्रेमभाव से मानवजगत् को एक धागे में पिरोया जा सकता है।

**हिन्दू पूजे देहुरा मुसलमान मसीत।**
**नामे सोई सेविया जो देहुरा न मसीत।।**

आज के युग में मतमतान्तरों के कारण आतंक फैलाने वाले मानव को नामदेव जी के सिद्धांत से शिक्षा ग्रहण करने की जरूरत है। इन सभी शिक्षाओं को सीखने के लिए गुरु की प्राप्ति जरूरी है। गुरु के बिना जीवन में अंधेरा है। सन्त नामदेव जी का मानवमात्र को संदेश है कि अगर गुरु मिल जाए जो परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है-

**जऊ गुरदेऊ त मिलै मुरारि, जऊ गुरदेऊ त उतै पारि।।**
**जऊ गुरदेव त बैकुंठ तैर, जऊ गुरदेऊ त जीवत मरै।।**

गुरु की कृपा के द्वारा ही शुद्ध बुद्धि प्राप्त होती है, व्यक्ति के संस्कार शुद्ध होते हैं जिससे बैकुंठ तक भी प्राप्त हो जाता है।

संत नामदेव जी व्यावहारिक स्तर पर मनुष्य की हर समस्या को तार्किक दृष्टि के साथ विचार करते हैं। वह मानव-समाज में प्रचलित अनैतिक मूल्यों का विरोध और नए

मूल्यों की स्थापना करते हैं। वह मूर्ति पूजा का खण्डन करते हैं –

**ऐकै पाथर कीजै भाऊ। दूजे पाथर धरीयै पाऊ।**
**जे उह देऊ ता उह भी देवा। कहि नामदेऊ हम हरि की सेवा।**

वह इन शब्दों से मनुष्य एवं मनुष्य के भेद को खत्म करना चाहते हैं।

आधुनिक मनुष्य मायाधारी है, उसको सृष्टि में बसा हुआ परमात्मा दिखाई नहीं देता क्योंकि माया व्यक्ति को मोहित करती है। माया के जाल में फंसा मनुष्य अपनी वास्तविकता को भूल जाता है और अपने कर्तव्य–मार्ग से विमुख हो जाता है। नामद्रेव माया को विष कहते हैं–

**कैसे मन तरहिगा संसार सागर विखै को बना।**
**झूठी माया देखि कै भूला रे मना। रहाऊ।।**

माया को छोड़कर ही परमात्मा से अभेद हो सकता है–

**इह संसार तबही छुटहु जऊ माया नह लपटावऊ।**
**माया नाम गर्भ जोनि का तिह तजि दरसन पावऊ।।**

नामदेव जी ने सांसारिक दौड़ धूप में फंसे हुए व्यक्ति की ताड़ना की है कि सुन्दर रूप और धन–दौलत का अभिमान करना, छल से अधिक कुछ नहीं। मनुष्य–जीवन नाशवान् है–

**गहरी करि कै नीव खुदाई ऊपर मंडप छाए।**
**मारकंडै ते को अधिकाई जिनि तृण धरि मूंड बलाए।।**
**हमरो करता राम सनेही। काहे रे नर गरव करत हहु,**
**बिनसि जाई झूठी देही।। रहाऊ।।**

परमात्मा सर्वव्यापक है, हर स्थान पर विद्यमान है। वह किसी एक स्थान पर ही प्राप्त नहीं किया जा सकता। वह तो सृष्टि के कण–कण में विद्यमान है।

जाति–पाति के भेदभाव को मिटाने के लिए सबसे पहले प्रयत्न संत नामदेव जी ने किया था। दलितों के ऊपर हुए अत्याचार के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द करते हुए कहते हैं कि–

**हसत खेलत तेरे देहुरे आया।**
**भगति करत नामा पकड़ उठाईया।।**
**हीनड़ी जाति मेरी जादमराईया।**
**छीपे के जनम काहे कऊ आईया।।**

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सन्त नामदेव जी की वाणी मानव–समाज के नव–निर्माण की आधारशिला है। उनकी वाणी में रचे गए समाज में धर्म– भेद, वर्ण–भेद, श्रेणी–भेद तिरोहित किए गए हैं। उनकी विचारधारा का प्रत्येक पक्ष केवल सैद्धान्तिक ही नहीं है अपितु व्यावहारिक है। इसलिए उनकी विचारधारा आधुनिक संदर्भ में बहुत मूल्यवान् है। आज समाज स्वार्थवादी सोच के कारण, आपसी विरोध के कारण विनाश के रास्ते की ओर अग्रसर हो रहा है। ऐसी स्थिति में संत नामदेव की वाणी का महत्त्व कल्याणकारी प्रतीत होता है।

स्नातकोत्तर पंजाबी विभागाध्यक्षा,
शान्ति देवी आर्य महिला महाविद्यालय, दीनानगर।

# श्रीमद्भागवतपुराण की भक्ति अथवा भावोपासना का सामाजिक वैशिष्ट्य

– श्री नवीन शर्मा

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य का जन्म से लेकर संवर्धन एवं विकास समाज में रहकर ही सम्भव है। मनुष्य के विकास में जहाँ उसके व्यक्तिगत प्रयत्नों का योगदान रहता है, वहीं दूसरी ओर वह समाज से भी बहुत कुछ प्राप्त करता है। व्यक्ति एवं समाज दोनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं। व्यक्ति के बिना समाज का कोई अस्तित्व सम्भव नहीं है क्योंकि व्यक्ति ही समाज की इकाई है, दूसरी ओर मनुष्य का भी समाज से पृथक् न तो विकास सम्भव है और न ही उसका मानवत्व सम्भव है। व्यक्ति एवं समाज का वही सम्बन्ध है जो शरीर एवं अङ्गों का होता है। शरीर के सभी अङ्गों का स्वस्थ होना अनिवार्य है। किसी एक अङ्ग के विकृत हो जाने पर शरीर कार्य करने में असमर्थ हो जाता है।

भारतीय परम्परा में प्राचीनकाल से व्यक्ति एवं समाज के सन्दर्भ में इसी मान्यता को स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद के 'पुरुषसूक्त' में समाज की तुलना विराट्-पुरुष के शरीर से की गई है।[१] इस तथ्य का उल्लेख भागवतपुराण में भी हुआ है।[२]

भागवतपुराण का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय भक्ति है। भक्ति अथवा भावोपासना की महिमा का गुणगान सम्पूर्ण भागवतपुराण में हुआ है। मनुष्य के लिए निःश्रेयस प्राप्ति का उपाय भक्ति ही है। इसलिए कहा गया है कि मनुष्य के लिए श्रेष्ठ धर्म वही है, जिससे भगवान् श्रीकृष्ण में भक्ति हो।[३] भक्ति व्यक्तिगत उपासना का मार्ग मात्र नहीं है। भागवतपुराण में भक्ति के अन्तर्गत कहीं भी सामाजिक आचारों की उपेक्षा नहीं की गई है। समाज का कल्याण एवं प्रोन्नति भक्ति का एक आवश्यक अङ्ग है। सर्वविध दुःखों की शान्ति का उपाय भगवान् की भक्ति ही है। इस पुराण का उद्देश्य है संसार के जीवों के भय का नाश करके सुख एवं शान्ति की प्राप्ति कराना।[४]

१. ऋ० १०/९०/१२
२. भा०पु०, ११/१७/१३
३. वही, १/२/६
४. भा०पु० माहात्म्य, १/११

भागवतपुराण में स्त्री एवं शूद्र को भी भागवत-धर्म का अधिकारी माना गया है।[५] समर्पण की भावना से रहित ब्राह्मण से चाण्डाल को श्रेष्ठ कहा गया है।[६] इससे ज्ञात होता है कि भागवतपुराण की उपासना के अन्तर्गत लोकतान्त्रिक विचारधारा को ही स्वीकार किया गया है। भागवत-धर्म का उद्देश्य यह नहीं है कि व्यक्ति अपने दायित्वों का त्याग करके माला लेकर जप ही करता रहे और अपने सामाजिक दायित्वों की उपेक्षा कर दे। अपने-अपने वर्ण-धर्म का सम्यकतया पालन भी भागवत-धर्म का आवश्यक अङ्ग माना गया है।[७]

भागवतपुराण के अनुसार प्रत्येक मनुष्य द्वारा अपनी-अपनी वृत्ति का पालन करना भी भगवान् की उपासना ही है।[८] यदि मनुष्य अपनी वृत्ति का त्याग कर सामाजिक कर्तव्यों से पलायन करता है तो वह समाज के सर्वाङ्गीण विकास में अपना योगदान नहीं दे सकता है। भागवत-धर्म[९] के अनुसार वर्ण-धर्म का मुख्य उद्देश्य यही है कि समाज में आजीविका, कर्त्तव्य तथा पुरस्कार आदि का विभाजन इस प्रकार से कर दिया जाए कि लोगों में परस्पर ईर्ष्या, द्वेष तथा निन्दा आदि अनुचित कृत्यों का उन्मूलन किया जा सके और प्रत्येक मनुष्य परस्पर सहयोग एवं सहानुभूति की भावना से समाज की सेवा एवं प्रोन्नति के लिए प्रयासशील हो। वर्ण-धर्म की तरह आश्रम-धर्म का मूल उद्देश्य भी मानव को अनुशासित कर सामाजिक दायित्वों का वहन करने के योग्य बनाना है जिससे वह निष्काम-भाव से स्वयं को समाज-सेवा के लिए समर्पित कर दे। ऐसा मनुष्य अपना प्रत्येक कार्य भगवान् के लिए ही करता है।[१०] वर्णों की तरह आश्रमों की उत्पत्ति भी विराट पुरुष से ही वर्णित है।[११]

ब्रह्मचर्य-आश्रम का उद्देश्य स्वयं को अनुशासित करके कर्तव्य पालन के योग्य बनाना तथा विद्या प्राप्त करना है। गृहस्थाश्रम में जहां मनुष्य अपने तथा परिवार के लिए कार्य करता है, वहीं वह दान, आतिथ्य एवं धर्म आदि सदाचारों का भी पालन करता है। चारों आश्रमों के अन्तर्गत ब्रह्मचारी का मुख्य धर्म है- आचार्य-सेवा। वानप्रस्थ का मुख्य धर्म है- तप एवं भगवद्भाव और संन्यासी का

५. भा०पु० माहात्म्य, ६/६
६. भा०पु०, ७/९/१०
७. वही, ११/१०/१
८. वही, ४/२१/३३
९. भागवत सम्प्रदाय, बलदेव उपाध्याय, पृ० ४०१
१०. भा०पु०, ११/११/२४
११. वही, ११/१७/१४

मुख्य धर्म है-शम एवं अहिंसा।[१२] सर्वविध सदाचारों का प्रमुख उद्देश्य सभी प्राणियों में भगवद्भाव एवं भक्ति की प्राप्ति कराना है।[१३]

वास्तव में भक्ति-धर्म के पालन से ही मनुष्य सभी सदाचारों का अच्छी प्रकार से पालन करता है। इससे वह कर्तव्यों का पालन करने से पलायन नहीं करता तथा समस्त प्राणियों में भगवान् के दर्शन करता हुआ, समाज से सामञ्जस्य स्थापित करके, समाज के कल्याण के लिए समर्पित कर देता है। भागवतपुराण की भक्ति अथवा भावोपासना की सामाजिक उपादेयता का सर्वोत्तम प्रमाण इसके प्रति लोक-श्रद्धा है। यही कारण है कि आज केवल भारतवर्ष में ही नहीं अपितु विदेशों में भी भागवतपुराण की कथा का परायण होता है। इसकी कथा के श्रवण से रसिक अपनी समस्त चिन्ताओं को भूलकर मानसिक शान्ति का अनुभव करते हैं। भागवतपुराण[१४] के अनुसार भगवत्कथा के श्रवण से भक्त का हृदय पवित्र हो जाता है; सद्भावों की उत्पत्ति होती है, दुःखों की निवृत्ति होती है, ईश्वर के प्रति प्रेमभाव उत्पन्न हो जाता है तथा सभी प्राणियों में भगवान् के ही दर्शन होते हैं और भगवान् के दर्शन से भक्त की विरोधी प्रवृत्तियाँ स्वतः शान्त हो जाती हैं।

अतः यह कहना उपयुक्त होगा कि भागवतपुराण की भक्ति अथवा भावोपासना मानव-कल्याण एवं समाज की प्रोन्नति में सहायक है क्योंकि भक्ति-तत्त्व को आत्मसात् करने से ही सम्पूर्ण विश्व में अहिंसा, समता तथा एकता आदि भावों को बढ़ावा दिया जा सकता है।

**शोधछात्र, वी०वी०बी०आई०एस०एण्ड आई०एस०,**
**साधु आश्रम, होशियारपुर।**

१२. भा०पु०, ११/१८/४२
१३. वही, ११/१८/४४
१४. वही, ११/२/४१

# महाभारत में वर्णित योगमहिमा

– सुश्री साक्षी

√युज् धातु में घञ् प्रत्यय लगाकर योग शब्द की निष्पत्ति होती है।√युज् धातु का अर्थ है, जोड़ना, मिलाना, जुए में जोतना, सम्पन्न करना, प्रयोग करना, नियुक्त करना, लगाना, मन को किसी ध्येय विषय पर केन्द्रित करना। अमरकोष में योग के अनेक अर्थ दिये हैं–[१] सन्नहन, उपाय, ध्यानम्, संगति, युक्ति, इत्यादि। पतञ्जलि ने चित्तवृत्तियों के नितान्त रुक जाने को योग कहा है।[२]

**महाभारत में योग** - महाभारत में योग विषयक चर्चा अनेक स्थानों पर हुई है। अनुगीता पर्व के अनुसार योग का लक्षण है प्रवृत्ति, ज्ञान का लक्षण है संन्यास।[३] गीता में ध्यानसाधना को भी योग माना है।[४] महाभारत में अष्टाङ्गयोग का भी वर्णन है। इसी को अष्टाङ्ग-बुद्धि कहा गया है। अष्टांग-बुद्धि के विषय में ऋषिवर युधिष्ठिर से कहते हैं– हे राजन्! आठ अङ्गों वाली (योगविषयक) बुद्धि सभी अमङ्गलों की नाशक तथा श्रुति व स्मृति के स्वाध्याय से दृढ़, वह बुद्धि आप में स्थित है।[५] योग की उपलब्धि तभी सफल है यदि यह बुद्धि स्थिर हो जाय, बुद्धि तभी स्थिर होगी यदि इन्द्रियां नियन्त्रित होंगी। महाभारत के अनुसार इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना ही सम्पूर्ण योगसाधना का सार है।[६] जिसकी इन्द्रियां व मन वश में हो जाये उसी की बुद्धि स्थिर रह सकती है।[७] तभी वह सुख-दुख, लाभ-हानि, जय-पराजय सभी स्थितियों को समानभाव से सहन कर सकता है, अतः समत्वबुद्धि को भी महाभारत में योग कहा गया है।[८] भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं– समत्वबुद्धि युक्त पुरुष पाप व पुण्य दोनों को ही इस लोक में त्याग देता है। अतः हे अर्जुन! तुम इस समत्वबुद्धि की ही साधना करो, क्योंकि कर्मों को चतुराईपूर्वक सम्पन्न करना योग है।[९]

१. अमरकोष ३.३.२२
२. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, यो.सू.१.२
३. महाभा.अश्वमे.४३.२६
४. महाभा.भीष्मपर्व.३६.३(श्रीमद्भग.१२.६)
५. वही, वन.प.२.१८
६. वही, वन.२.११.२०
७. वही, भीष्मपर्व.२६.६१(श्रीमद्भग.२.६१)
८. वही, ४८
९. वही, भीष्म, २६.५

महाभारत में एकाग्रमन से किसी कार्य के अभ्यास को भी योग कहा है। उद्योगपर्व के अनुसार सत्य से धर्म की रक्षा होती है व योग से विद्या की रक्षा की जाती है। यहां योग से अभिप्राय अभ्यास से है।[१०] वहीं कृष्ण भी अभ्यासयोग का वर्णन करते हैं।[११] द्रोणाचार्य व अर्जुन की तुलना करते हुए कहा गया है- द्रोणाचार्य में सम्पूर्ण ज्ञान एक स्थान पर सञ्चित है, परन्तु अर्जुन में अस्त्रों का ज्ञान व योग (अभ्यास) दोनों ही है।[१२] शान्तिपर्व में धर्म को सांख्य व योग के समान कहा गया है जो नारायणस्वरूप मोक्ष में ही परमगति प्राप्त करता है।[१३] एक स्थान पर मोक्षोपयोगी अनेक साधनों में ध्यानयोग का भी परिगणन किया गया है।[१४] योगसाधना कहां करनी चाहिए इस विषय में भी महाभारत में बतलाया गया है। भगवान् वेदव्यास शुकदेव मुनि को उपदेश देते हैं- एकान्त में ही योग-साधना करनी चाहिए।[१५] पर्वत की सूनी गुफा, देवमन्दिर या शून्य गृह को निवासस्थान बना कर साधना करनी चाहिए।[१६] भगवान् कृष्ण अर्जुन को कहते हैं- शुद्ध भूमि में, जिसके ऊपर क्रमशः कुशा, मृगछाल और वस्त्र बिछे हैं, जो न बहुत ऊँचा और न बहुत नीचा , ऐसे आसन को स्थिरतापूर्वक, स्थापित करो।[१७] वहीं योगसाधना का उचित समय प्रातः व सायं बतलाया गया है। व्यास जी शुकदेव मुनि को कहते हैं कि रात्रि का पूर्व तथा अपर काल साधना का सर्वोत्तम काल है।[१८]

श्री कृष्ण अर्जुन को योगविधि समझाते हुए कहते हैं- शरीर, ग्रीवा व सिर को सीधा रखकर स्थिरतापूर्वक बैठकर अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि एकाग्र करो। अन्य किसी भी दिशा में न देखते हुए, दृढ़तापूर्वक मेरा चिन्तन करो।[१९] अनुशासनपर्व में उमा-महेश्वर सम्वाद के अनुसार कुशा के आसन पर बैठकर अपने अङ्गों को मत हिलाओ-डुलाओ। अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखो, अन्य किसी ओर मत देखो।[२०] इस प्रकार उचित आसन में बैठ कर मन को एकाग्र कर इन्द्रियों को वश में करो। जैसे द्रव्य का इच्छुक व्यक्ति द्रव्यराशि को कोठे में एकत्रित करके

१०. महाभा. उद्योग पर्व. ३४.३९
११. वही, भीष्म प. ३२.८
१२. वही द्रोण प. १८८.४५
१३. वही शान्ति प. ३४८.७४
१४. वही, आश्वमे. ४९.१०
१५. वही, शांति. २४०.२२
१६. वही, २४०.२८
१७. वही, भीष्म ३०.११
१८. वही, शान्ति प. ३०६.१३
१९. वही, भीष्म. ३०.१३.१४
२०. वही, अनुपर्व

रखता है, उसी प्रकार साधक इन्द्रिय-समूह को वश में करके नित्य आत्मतत्व का एकाग्रतापूर्वक चिन्तन करे। योगसाधना से मन को उद्विग्न न होने दें।[२१] मन तथा इन्द्रियों का एक लक्ष्य पर एकाग्र होना ही ध्यानमार्ग का प्रथम सोपान है।[२२]

महाभारत में योग में आने वाले विघ्नों का भी विस्तृत वर्णन किया गया है। योग में आने वाले पाँच मुख्य दोष कहे गये हैं- काम, क्रोध, लोभ, भय व स्वप्न तथा पाँच अन्य दोष स्नेह, अतिभोजन, वैचित्य (मानसिक विकलता), व्याधि व आलस्य। ये विघ्न देवताओं की ओर से उपस्थित होते हैं।[२३] अनुगीता पर्व में श्री कृष्ण अर्जुन को कहते हैं, क्रियावान् मनुष्यों से देवलोक भरा पड़ा है, देवताओं को यह अभीष्ट नहीं है कि मनुष्य अमर हो जायें।[२४] अर्थात् देवताओं को सदैव यह भय रहता है कि मनुष्य कहीं उनसे अधिक शक्तिशाली न हो जाये। वेदव्यास शुकदेव जी को योगदोषों को दूर करने के उपाय बतलाते हुए कहते हैं- कामविकार को संकल्पत्याग द्वारा जीतो, क्रोध को शान्ति द्वारा तथा सत्वगुण के अधिकाधिक अर्जन से निद्रा को वश में करो। इस प्रकार इन योग-दोषों को इन्द्रियों को वश में कर जीतने का प्रयास करना चाहिए। गीता के अनुसार योगी के उचित आहार-विहार, उचित कर्मों द्वारा उचित निद्रा लेने पर ही योगसाधना दुःख विनाशक होती है।[२५]

योगाभ्यास द्वारा योगी आध्यात्मिक तौर पर तो प्रगति करता ही है, उसका व्यावहारिक पक्ष भी उन्नति करता है। उसे विषयभोग की लालसा नहीं रहती। वह अपनी इन्द्रियों को वश में कर लेता है तथा परमानन्द का अनुभव करता है। तत्पश्चात् वह सदैव समाधिलीन ही रहना चाहता है। इसी तथ्य को भीष्म पितामह युधिष्ठिर से कहते हैं- जिस प्रकार तृप्त हुआ मनुष्य सुखपूर्वक निद्रामग्न रहता है, उसी प्रकार योगयुक्त पुरुष के मन में भी सदैव प्रसन्नता रहती है, वह समाधि में लीन रहना चाहता है। जिस प्रकार तैलपूरित दीपक वायुशून्य स्थान में निश्चलरूप से जलता रहता है, उसकी शिखा स्थिरतापूर्वक ऊपर की ओर उठी रहती है, उसी प्रकार समाधिनिष्ठ योगी को मनीषी पुरुष स्थिरमना कहते हैं। जिस प्रकार आघात से पर्वत नहीं कांपता उसी प्रकार अनेक प्रकार के विक्षेप भी योगी को विचलित नहीं कर सकते। उसके समीप शङ्ख नगाड़े बजाये जायें तो भी उसका ध्यान भङ्ग नहीं होता, यही उसकी सुदृढ़ समाधि का लक्षण होता है।[२६] उस अवस्था में अपने शरीर का भी

२१. महाभा. शान्तिप., २८.२६
२२. वही, १९५.१०
२३. अनु. १४५.१
२४. वही, २४०.५.८
२५. भीष्म. ३०.१६ (श्रीमद्भगवद्गीता, ६.१६)
२६. महाभा. शान्ति. ३१६.१८-२२

आभास नहीं रहता। इस विषय में ऋषि वसिष्ठ जनक को योगोपदेश देते हुए कहते हैं- जब योगी मन के द्वारा सम्पूर्ण इन्द्रियों को तथा बुद्धि के द्वारा मन को स्थिर करके प्रस्तर समान अविचल, शुष्क काष्ठ तथा पर्वत की भांति निष्कम्प तथा स्थिर रहने लगे, तभी शास्त्रज्ञ विद्वान् उसे योगयुक्त कहते हैं। जिस समय योगी न तो कानों से सुनता है न नासिका से सूंघता है, न स्वाद ग्रहण करता है न देखता है तथा न ही स्पर्श का ही अनुभव करता है। जब उसके मन में किसी प्रकार का संकल्प नहीं उठता तथा वह बाह्य जगत् से संज्ञाशून्य हो जाता है। उस समय मनीषी उसे योगयुक्त कहते हैं। उसका लिङ्ग शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। निश्चलता के कारण उसकी ऊपर-नीचे अथवा मध्य में कहीं भी गति नहीं होती।[२७] महाभारत में योगी की स्थिति के संबंध में कहा गया है- सम्पूर्ण प्राणियों का विनाश होने पर भी उसे भय नहीं होता। उसे किसी से क्लेश नहीं पहुंचता। शान्तचित्त एवं निःस्पृह योगी आसक्ति तथा स्नेह से प्राप्त दुःख शोक तथा भय से विचलित नहीं होता।[२८] उसे शस्त्र नहीं बींध सकते। मृत्यु उसके पास नहीं पहुंचती। संसार में उससे अधिक सुखी और कोई नहीं दिखाई देता। वह मन को आत्मा में लीन कर उसी में स्थित हो जाता है तथा दुःखों से मुक्त होकर सुखपूर्वक सोता है। वह अक्षय आनन्द का अनुभव करता है। योग का अभ्यासी जब अपने में ही आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है। तब वह साक्षात् इन्द्र-पद को भी प्राप्त करने की इच्छा नहीं करता। योग में पूर्णता प्राप्ति के पश्चात् साधक के लिये समस्त जगत् समान हो जाता है। वह कण-२ में उस पारब्रह्म को ही देखता है तथा सभी प्राणियों में अपनी आत्मा का ही दर्शन करता है। अनुगीता पर्व में कहा गया है। साधक आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् देह व आत्मा की भिन्नता को भलीभांति समझ लेता है। जिस प्रकार मनुष्य स्वप्न में किसी अपरिचित व्यक्ति को देखने के पश्चात् जब पुनः उसे जाग्रत अवस्था में आमने-सामने देखता है, तब तुरन्त पहचान जाता है यह वही व्यक्ति है जिसे मैंने स्वप्न में देखा था। इसी प्रकार साधना-पारायण योगी समाधि अवस्था में आत्मा को जिस रूप में देखता है उसी रूप में व्युत्थित दशा में भी देखता है, योगी पुरुष आत्मा को इस देह से पृथक् अनुभव करता है। वहां शरीर को मूंज कहा गया है तथा आत्मा को सींक।[२९]

योग-साधना के संबंध में कहा गया है कि योग-साधना क्षणभर में अथवा आजीवन तप करने से प्राप्त नहीं होती। यह योगयात्रा अनेक जन्मों तक चलती है तब कहीं जाकर

२७. महाभा. शान्ति. ३०.६.१४-१८
२८. वही, भीष्म. ३०:१८-२२
२९. वही, आश्वमे. १४.२१.२५

योगी सफल होता है और परमगति को प्राप्त होता है।[३०] अर्जुन, श्री कृष्ण से पूछता है कि जो व्यक्ति योगसाधना में सफल न हो सका, वह व्यक्ति न तो लौकिक दृष्टि से धनार्जन कर जीवन सफल बना सका और न ही साधना के अन्तिम लक्ष्य (कैवल्य) को पा सका।[३१]. तब श्री कृष्ण, अर्जुन का संशय दूर करते हुए कहते हैं कि, हे अर्जुन! उस असफल एवं योगभ्रष्ट साधक का न तो इस लोक में नाश होता है और न ही परलोक में। मृत्यु के पश्चात् वह अपनी योगसाधना के पुण्यों के फलस्वरूप पुण्यशाली व्यक्तियों के लोकों व धनवान् व्यक्तियों के वंश में जन्म लेता है अथवा वह योगियों के ही वंश में उत्पन्न होता है। यहां वह पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण पुनः योगसिद्धि प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता है। फिर अनेक जन्मों के पश्चात् वह परमगति प्राप्त करता है।[३२] इस प्रकार योगी की साधना कभी व्यर्थ नहीं जाती वह जिस जन्म में योगसाधना छोड़ कर जाता है अगले जन्म में वहीं से पुनः आरम्भ करता है।

महाभारत में योग के फल व उसकी महिमा का भी वर्णन मिलता है। भीष्म पितामह युधिष्ठिर से कहते हैं कि– हे पुत्र! हज़ारों अश्वमेध यज्ञों तथा सैकड़ों वाजपेय यज्ञों का पुण्य फल योगाभ्यास के फल की सोलहवीं कला के समान भी नहीं होता अर्थात् योगाभ्यास का पुण्य यज्ञों पुण्यफलों से कहीं अधिक होता है।[३३]

आश्वमेधिक पर्व में कहा गया है जो योगी ममता व अहंकार से रहित है, परन्तु ध्यानाभ्यास में असफल है, वह भी महापुरुषों के उत्तम लोकों में प्रवेश करता है।[३४] भगवान् कृष्ण कहते हैं कि इस योगसाधना की पूर्णता को कोई विरला ही प्राप्त कर सकता है।[३५]

**शोधछात्रा, वी०वी०बी०आई०एस०एण्ड आई०एस० (पं०वि०), साधु आश्रम, होशियारपुर।**

---

३०. वही, भीष्म. ३०.४५
३१. महाभा. भीष्म. ३०.३७-३८
३२. वही, भीष्म. ३०.४०-४५
३३. शान्ति ३२३.९
३४. वही, आश्वमे. ५१.२२-२४
३५. वही, भीष्म. ३२.३

# प्रमुख उपनिषदों में योगदर्शन

— श्री विवेक शर्मा

सांख्य एवं योग सैद्धान्तिक रूप से पृथक् नहीं है[१]। अतः स्फुट रूप से श्वेताश्वतरोपनिषद् में प्रतिपादित है कि ईश्वर का ज्ञान सांख्ययोग के द्वारा ही हो सकता है।[२] ये दोनों खण्डन-मण्डन के दर्शन नहीं अपितु अनुभूति, ज्ञान, परमगति एवं वस्तुतः दर्शन करवाने वाले हैं। जिनके सामने अन्य सब दर्शन मूलतः एवं फलतः अदर्शन ही हैं। सांख्य द्वारा तत्त्वों का आकलन कर लेने के पश्चात्, 'आँखें बन्द करके पुरुष को टटोलने में प्रयत्नशीलता को, अमृतत्त्व की आस्वादनेच्छा को, अविद्या के जालपाशों को छिन्नभिन्न करने को एवं बुद्धि को चेष्टाहीन शान्त सरोवर बनाने वाली स्थिति को योग कहते हैं।'

उपनिषद्-वाङ्मय में योग को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में योग के महत्त्व को स्पष्ट शब्दों में स्वीकारते हुए कहा गया है कि योगी को रोग नहीं होता, न ही उसे वृद्धावस्था प्राप्त होती है एवं उसकी असामयिक मृत्यु भी नहीं होती।[३] कठोपनिषद् में योग को सुन्दर रीति से परिभाषित किया गया है कि बुद्धि की निश्चेष्ट अवस्था में स्थिर इन्द्रिय-धारणा को ही योग कहते हैं। जिसमें प्रमाद नहीं रहता क्योंकि योग उत्पत्ति एवं नाश स्वरूप दोनों हैं।[४]

कठोपनिषद् में योग के विषय में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। वहां इसे आध्यात्मयोग नाम से पुकारा गया है। कठोपनिषद् में घोषणा की गई है कि आध्यात्मयोग ही ऐसा मार्ग है, जिससे हर्ष एवं शोक दोनों को तिलाञ्जलि दी जा सकती है। साथ ही बतलाया गया है कि योग द्वारा इन्द्रियों पर नियन्त्रण करने वाला ही आत्मस्वरूप के दर्शन कर सकता है।[५] वस्तुतः योग के अनुष्ठानहेतु मन की लगाम को महत्त्वपूर्ण माना गया है क्योंकि इसकी रोकथाम से ही पुरुष की प्राप्ति सम्भव है। कठोपनिषद् में इस बात का भी समर्थन किया गया है।[६]

योगदर्शनानुसार योग के आठ अंग हैं।,[७] किन्तु उपनिषदों में योग के अंगों के विषय में

१. सांख्ययोगौ पृथक्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। गीता.
२. श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६/१३
३. तत्रैव, २/१२
४. कठोपनिषद्, २/३/१०-११
५. तत्रैव, २/१/१
६. तत्रैव, २/३/९
७. योगदर्शन, २/२९

पृथक्-पृथक् मत प्रस्तुत किये गए हैं। अमृतनादोपनिषद् में छः अंग (ध्यान-धारणा-प्राणायाम-प्रत्याहार-तर्क-समाधि) हैं। क्षीरोपनिषद् में १५ अंग माने हैं।[८] इन अष्टांगों में महत्त्वपूर्ण 'आसन' के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए अमृतनादोपनिषत्कार द्वारा प्राणायाम से युक्त ॐकार जपविधि को बतलाया है कि साधक को उत्तराभिमुख होकर पद्मासन, स्वस्तिकासनादि में बैठना चाहिए।[९] आसनों के नाम सहित उपनिषदीय वर्णन से यह ज्ञात होता है कि जिन पद्मासनादि का प्रयोग वर्तमान समय में होता है, उन्हीं आसनों का प्रयोग उपनिषद्कालीन समाज में भी व्यावहारिक रूप से अवश्य होता रहा होगा।

कई प्राचीन उपनिषदों में प्राणविद्या का विवरण प्राप्त होता है। अतः प्राणायाम-विधि का भी वर्णन उपनिषदों में पर्याप्त मात्रा में है। कौषीतकी उपनिषद् का तो यहां तक कहना है कि आयु का निर्धारण प्राणों के ही द्वारा हो सकता है। अष्टांगयोग की इस महत्त्वपूर्ण क्रिया प्राणायाम के बारे में श्वेताश्वतरोपनिषद् में बतलाया गया है कि पहले प्राणों को पूर्ण संयम में रखकर वायु को अन्दर खींचने के बाद योगानुकूल चेष्टा में आवें, तब नाक से श्वास बाहर छोड़कर सारथी के समान मन रूपी रथ का नियन्त्रण करें।[१०] अमृतनादोपनिषद् में इस विषय में बतलाया गया है कि उचित आसन में बैठकर एक अंगुली से नाक के एक छिद्र को बन्द करके, दूसरे से वायु खींचे। फिर दोनों छिद्रों को बन्द कर कुम्भक लगाकर वायु को रोककर एकाक्षर ब्रह्मरूप तेजोमय 'प्रणव' का चिन्तन करना चाहिए।[११]

योगदर्शन में सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है 'ध्यान'। ध्यान के बिना योग की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। वस्तुतः सम्यक् ध्यान के क्रियान्वयन से ही साधक मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। ध्यान के विषय में उपनिषदों में विस्तृत विवेचन किया गया है। ध्यान विषयक उपनिषदीय वर्णन में सर्वप्रथम ध्यान की भूमिकास्वरूप उपनिषद्स्थ वर्णन को व्याख्यायित करना आवश्यक है। तदनुसार श्वेताश्वतरोपनिषद् की बात करें तो यहां अत्यन्त उचित एवं विश्लेषणात्मक उपमा द्वारा अन्तर्जगत् के मन्थन के क्रम को बतलाते हुए कहा है कि 'लकड़ी को घिसने से आग प्रकट होती है, तथापि मूर्तरूपेण लकड़ी को देखने पर आग दिखाई नहीं देती।' जिस प्रकार उत्तरारणियों एवं अधरारणियों के घर्षण से अग्नि प्रज्ज्वलित होती है, उसी प्रकार तिरोभूतात्मा का साक्षात्कार देह को अधरारणि तथा ॐकार को उत्तरारणि बनाकर उपासना (ध्यान) रूपी घर्षण से किया जा सकता है।[१२]

---

८. क्षीरोपनिषद्
९. अमृतनादोपनिषद्, १९
१०. श्वेताश्वतरोपनिषद्, २/९
११. अमृतनादोपनिषद्, २०
१२. श्वेताश्वतरोपनिषद्, १/१३

ब्रह्मविद्योपनिषद् में ध्यान केन्द्रित करने का स्थान भ्रूमध्य बतलाया गया है।[१३] उपनिषद् के सन्दर्भ में ध्यान एवं उसके स्थान सम्बन्धित सर्वाधिक विस्तृत एवं स्पष्टोल्लेख श्वेताश्वतरोपनिषद् में है। इसमें स्थान के महत्त्व को व्याख्यायित किया गया है कि सम- शुद्ध- 'कंकड़, बालू, आग से हीन'- पक्षियों आदि की ध्वनि से युक्त-जल समीपवर्ती-रहने योग्य स्थान-मनोनुकूल-आँखों को पीड़ा न देने वाला- तीव्र वायु वेग रहित एवं गुहा के आश्रय में बैठकर ध्यान करना चाहिए।[१४] ध्यान के सम्बन्ध में अपना मत प्रस्तुत करते हुए कैवल्योपनिषत्कार वर्णित करते हैं कि योगी लोग संन्यासाश्रम में स्थित हों, तथा उन्हें स्नानादि से अपने शरीर को शुद्ध करके एकान्त स्थान में अपना आसन लगाकर, सिर, गले एवं शरीर को एक सीध में रखकर समस्त इन्द्रियों को एकाग्र करके हृदय कमल में अचिन्त्य-अव्यक्त-अनन्त तथा शान्त स्वरूप विशुद्ध तत्त्व का ध्यान करना चाहिए।[१५] सुन्दर उपमा द्वारा ध्यान के फल को श्वेताश्वतरोपनिषत्कार व्याख्यायित करते हैं कि छाती, ग्रीवा और शिर ये तीनों जिसमें ऊपर उठे हों, ऐसे शरीर को आसन पर स्थित कर चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों को मनरूपी रुकावट से रोककर एवं मन के संग इन्द्रियों को जोड़कर प्रबल वेग से बहने वाली नदी के समान इन्द्रियों के नरकगामी फल को जानते हुए, ॐकार एवं ईश्वर के चिन्तन रूपी नौका से इन्द्रिय रूपी नदियों को पार किया जा सकता है।[१६] मुण्डकोपनिषद् में ध्यान को स्पष्ट करते हुए आचार्य शिष्य को बतलाते हैं कि जैसे रथ की नाभि में अरे लगे होते हैं उसी प्रकार जिसमें सम्पूर्ण नाड़ियां एकत्रित होती हैं, उस हृदय के भीतर यह परमात्मा अन्तर्यामी आत्मा रूप से रहता है। इस आत्मा का ॐ इस प्रकार ध्यान करें।[१७]

वस्तुतः योग की परम अवस्था वह है जब इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि की वृत्ति रुक जाती है। कुछ ऐसे ही क्रम की तुलना छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित दो तथ्यों के साथ की जा सकती है जिसके अनुसार ध्यान प्रक्रिया के अन्त में वाणी का मन में, मन का प्राणों में, प्राणों का तैजस् में और तैजस् का परमेश्वर में विलय हो जाता है।[१८]

सामान्यतः उपनिषद् वेदान्तपरक ही माने जाते हैं, किन्तु उपर्युक्त संकलनानुसार यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि उपनिषदों में योगतत्त्व भी पर्याप्त मात्रा में हैं।

शोधछात्र, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, वेदव्यासपरिसरः, बलाहरः ( हि०प्र० ) फोन : 9459050303

१३. ब्रह्मविद्योपनिषद्, ८०
१४. श्वेताश्वतरोपनिषद्, २/१०
१५. कैवल्योपनिषद्, ५-६
१६. श्वेताश्वतरोपनिषद्, २/८
१७. मुण्डकोपनिषद्, २/२/६
१८. छान्दोग्योपनिषद्, ६/८/६

# संस्थान-समाचार

अनुदान –

**डी.ए.वी. कॉलेज, मैनेजिंग कमेटी**

चितर गुप्त रोड़, नई दिल्ली। 5,00,000/–

दान –

**डॉ. वी.डी. धवन,**

359, 15 ए, चण्डीगढ। 1000/–

**चौ. भगवान सिंह पार्वती नासा**

**चैरिटेवल ट्रस्ट**

फ्लैट 1202, टावर–24,

सैक्टर – 49, गुडगांव। 2500/–

**डॉ. शिव कुमार वर्मा,**

पंजाब विश्वविद्यालय लाईब्रेरी,

साधु आश्रम, होशियारपुर। 1000/–

**मैं फार्मा क्राफ्ट,**

चिन्तपुरनी रोड़,

सामने एस.डी. पब्लिक स्कूल,

होशियारपुर। 3100/–

**श्री वीरेन्द्र कुमार शर्मा**

मंगल भवन, सिविल लाईन,

होशियारपुर। 1200/–

---

हवन-यज्ञ–

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान के कार्य-दिवस का शुभारम्भ प्रतिसप्ताह प्रथम दिन सत्संग-मन्दिर में हवन-यज्ञ से हुआ। सितंबर 2016 के द्वितीय रविवार को संस्थान के सत्संग-मन्दिर में परमपूज्य स्वामी सत्यानन्द जी महाराज के द्वारा चलाई गई परम्परानुसार उनके भक्तों के द्वारा अमृतवाणी का पाठ भी किया गया।

सादर भेंट–

डी.ए.वी. कॉलेज, होशियारपुर से सेवानिवृत्त श्री एस.डी. गोपाल, बैंक कालोनी, होशियारपुर द्वारा संस्थान को एक कम्प्यूटर भेंट किया गया है। जिसके लिए संस्थान उनके प्रति आभार प्रकट करता है तथा उनकी दीर्घायु की कामना करता है।

## विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान
के संस्थापक संचालक

# पद्मभूषण स्व. आचार्य (डॉ.) विश्वबन्धु जी
की

# जयन्ती

के उपलक्ष्य में दिनांक 30 सितम्बर, 2016, शुक्रवार को

वी. वी. आर. आई. साधु आश्रम, होशियारपुर में

समारोह किया जा रहा है।

अध्यक्ष :

## माननीय श्री किशोर कान्त जी
केन्द्रीय अभिलेखागार, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, नई दिल्ली

मुख्य-अतिथि :

## माननीय श्री विजय साँपला
केन्द्रीय राज्य मंत्री
सामाजिक न्याय व अधिकारिता मंत्री, भारत सरकार
एवं प्रदेश अध्यक्ष, भारतीय जनता पार्टी पंजाब

यजमान

## श्री संजीव सूद

आपसे इस समारोह में सम्मिलित होने की प्रार्थना की जाती है।

## कार्यक्रम

हवन-यज्ञ..............................प्रात: 09-30 बजे से 10-00 बजे
स्वागत अध्यक्ष तथा मुख्य अतिथि......................प्रात: 10-00 बजे
श्रद्धांजलियाँ...............................................प्रात: 10-15 बजे
भाषण-मुख्य अतिथि.................................दोपहर 11-00 बजे
अध्यक्षीय भाषण....................................................तदनन्तर
प्रीति-भोज (सभी के लिए).......................समारोह की समाप्ति पर

निवेदक :

इन्द्रदत्त उनियाल
आदरी संचालक

## विविध-समाचार

# अन्तर्राष्ट्रिय आर्य महासम्मेलन

आप सपरिवार, इष्टमित्रों सहित इस महासम्मेलन में सादर आमन्त्रित हैं। इसमें सहभागी होकर आप तन, मन, धन से नेपाल में आर्यत्व के प्रचार-प्रसार कार्य में नेपालवासियों का हौसला बढाएँ एवं प्रकृति के रमणीय सुन्दर दृश्यों के अवलोकन का सौभाग्य भी प्राप्त करें।

**तिथिः २०१६ अक्तूबर, २०,२१,२२ बृहस्पति, शुक्र, शनिवार को**
**स्थानः टुँडिखेल, काठमाडों।**

आप अपने समीप की आर्य समाज, आर्य प्रतिनिधि सभा अथवा आयोजक समिति में सम्पर्क कर विस्तृत विवरण प्राप्त कर सकते हैं। महासम्मेलन की वेबसाइट ***www.nepalaryasamaj.org*** से भी जानकारी प्राप्त सकते हैं। आप हम से दूरभाष 00977-1-4487794 अथवा चलभाष नं. 00977-9841303440 (डा. माधवप्रसाद), 00977-9851077613 (डा. तारानाथ मैनाली) में सीधा सम्पर्क कर सकते हैं। आप अपनी सहयोग राशि महासम्मेलन सम्पर्क कार्यालय में या महासम्मेलन स्थल में नगदी रसीद लेकर अथवा चैक/बैंक ड्राफ्ट के माध्यम से प्रदान कर सकते हैं अथवा आप अपने समीप के एसबीआई बैंक की शाखा से नेपाल आर्य समाज के खाता नं. 20525240200259 ***NPR (Swift Code-NSBINPKA)*** में सीधे सहयोग राशि जमा करवा सकते हैं। ऐसी अवस्था में आपको नगदी रसीद डाक से भेज दी जायेगी।

निवेदक

**कमलाकान्त आत्रेय**
अध्यक्ष
नेपाल आर्य समाज
केन्द्रीय समिति

**डॉ. माधवप्रसाद उपाध्याय**
संयोजक
अन्तर्राष्ट्रिय आर्य महासम्मेलन
आयोजिक समिति

## संयुक्त राष्ट्र का चार्टर अब संस्कृत में भी -

करीब दो साल पहले योग को संयुक्त राष्ट्र संघ की मान्यता मिली थी। भारत के लिए वह गौरव का क्षण था। ऐसे ही गर्व का हमें अब एक और मौका मिला है। संयुक्त राष्ट्र के चार्टर का अब संस्कृत में अनुवाद किया गया है। संयुक्त-राष्ट्र में भारत के स्थायी प्रतिनिधि सैयद अकबरुद्दीन ने ट्वीट के जरिये यह जानकारी दी है। अकबरुद्दीन ने अपने ट्वीट में अखिल भारतीय संस्कृत परिषद के सचिव डॉ. जितेंद्र कुमार त्रिपाठी को उनकी कोशिश के लिए धन्यावाद दिया है। उन्होंने लिखा, **इस उत्कृष्ट प्रयास के लिए डॉ. जितेंद्र कुमार त्रिपाठी आपका शुक्रिया।** उन्होंने ट्विटर पर यूएन चार्टर के संस्कृत अनुवाद के कवर की एक तस्वीर भी शेयर की है।

## सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के निर्देशन में दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा आयोजित

आर्य परिवार युवक-युवकी वैवाहिक परिचय सम्मेलन

सम्मेलन कार्यालय: १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ दूरभाष: 23360150, 23365959
E-mail: aryasabha@yahoo.com web : thearyasamaj.org IVR No. 011-23488888

**१६वां सम्मेलन दिनांक- ६ नवम्बर २०१६, रविवार समय- प्रातः १० बजे से**

कार्यक्रम स्थल - आर्य समाज, धामा वाला, अस्पताल रोड़, देहरादून (उत्तराखंड)

**१७वां सम्मेलन दिनांक- १५ जनवरी २०१७, रविवार समय- प्रातः १० बजे से**

कार्यक्रम स्थल - आर्य समाज, अशोक विहार, फेज 1, F-5 नई दिल्ली-११००५२

उक्त सम्मेलन सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा के निर्णय एवं निर्देशानुसार दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के संयोजन में आर्य प्रतिनिधि सभाओं के सहयोग से आयोजित किये जा रहे हैं। इन सम्मेलनों में जहां महर्षि दयानन्द्व के कथनानुसार 'युवक-युवती अपने गुण कर्म स्वभाव के अनुसार ही परस्पर विवाह करें' का यह कार्य जहां वैदिक मिशन को आगे बढ़ाने में सहायक सिद्ध होगा वही आर्य परिवारों एवं युवा पीढ़ी को आर्य समाज से जोड़ने का भी एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर साबित होगा।

अतः आप से निवेदन है कि आप अपने आर्य समाज के परिक्षेत्र में आर्य परिवार के विवाह योग्य युवक-युवतीयों से पंजीकरण फार्म भरवाकर इस पुनीत कार्य में सक्रिय सहयोग प्रदान करें। रजिस्ट्रेशन फार्म पूर्ण करवाकर सम्मेलन की तिथि से १५ दिवस पूर्व सम्मेलन कार्यालय दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५ हनुमान रोड़, नई दिल्ली-११०००१ में शीघ्रातिशीघ्र भिजवाने का श्रम करें।

**श्री अर्जुनदेव चड्ढा, राष्ट्रीय संयोजक**

# (संस्थान) सत्संग मन्दिर

वी. वी. आर. आई. सोसाईटी, होश्यारपुर ( पंजाब ) की ओर से प्रकाशक व मुद्रक
प्रो. इन्द्रदत्त उनियाल द्वारा वी. वी. आर. इन्स्टीच्यूट प्रैस, पो. आ. साधु-आश्रम,
होश्यारपुर से छपवा कर, वी. वी. आर. इन्स्टीच्यूट, पो. आ. साधु-आश्रम,
होश्यारपुर-१४६ ०२१ ( पंजाब ) से २८-९-२०१६ को प्रकाशित।